
चौथा अध्याय

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में इतिहास ,संस्कृति
एवं मिथक

निबंध

निबंध, मनुष्य की अनुभूति एवं गंभीर चिंतन का संक्षिप्त एवं लघु लिखित रूप है। इसमें बुद्धि और भावना का समन्वय होता है। रचनाकार किसी एक विषय को लेकर उसकी गहराई तक का अध्ययन करके, उचित भाषा-शैली का प्रयोग करते हुए निबंध रचना करते हैं। रोचक विषय तथा सशक्त भाषा से ही गंभीर निबंधों का सृजन होता है।

हिन्दी साहित्य में निबंध का समुचित विकास भारतेन्दु काल से माना जाता है। सामाजिक सुधार तथा सांस्कृतिक चेतना को लक्ष्य करके इस समय के निबंधकार रचनाएँ करते थे। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, अब्दिकादत्त व्यास आदि भारतेन्दु काल के प्रमुख निबंधकार हैं। उसके बाद द्विवेदी युग के निबंधकार भाषा तथा शैली को प्रधानता देते हुए निबंध रचना करने लगे। इस समय के निबंधों में ऐतिहासिकता का तत्व निहित है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, बाबू श्यामसुंदर दास आदि इस समय के प्रमुख निबंधकार हैं। विचारों की प्रधानता एवं गंभीरता के साथ हिन्दी निबंध क्षेत्र में शुक्लयुग का आरंभ होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक एवं सैद्धांतिक निबंधों के उपज्ञाता हैं। शुक्ल युग के अन्य प्रमुख निबंधकार हैं बाबू गुलाबराय, पदमलाल पुन्नलाल बक्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, , जयशंकर प्रसाद, और शांतिप्रिय द्विवेदी। शुक्लोत्तर युग में आते-आते निबंध कला को बहुत परिवर्तन आने लगा। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नगेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्रजोशी, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती आदि इस युग के प्रमुख निबंधकार हैं। इन निबंधकारों में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का स्थान अद्वितीय है। आपके निबंधों में हृदय की सरलता,

प्राचीन साहित्य एवं संस्कृत का ज्ञान-वैभव, विचारों की मौलिकता एवं शैली की रोचकता का सफल समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उनकी ऐतिहासिक तथा साँस्कृतिक दृष्टि तथा मिथकों का समन्वय, उनके निबंधों को कैसे अलग करते हैं, यही प्रस्तुत अध्याय का विषय है।

‘हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली’ के निबंध खण्ड में पच्चास से अधिक निबंधों को संग्रहित किया गया है। इनमें से प्रत्येक निबंध इतिहास, संस्कृति एवं मिथक की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में इतिहास

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के सारे-के-सारे निबंध ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। देश तथा क्षेत्र से सम्बन्धित घटनाएं, कथा की वास्तविकता से काल्पनिकता का समन्वय, देशकाल तथा वातावरण, मुख्य कथा से उत्पन्न उप-कथाएं, ऐतिहासिक एवं काल्पनिक पात्र, अतीत पर आधारित वर्तमान एवं भविष्य, देशभक्ति, मानवता को पोषित करनेवाली साँस्कृतिक प्रेरणा, लोकजीवन, मानवजीवन की पुनर्व्याख्या का भाव आदि इतिहास की प्रमुख तत्वों के आधार पर प्रत्येक निबंध का विश्लेषण आगे किया जाएगा।

‘नाखून क्यों बढ़ते हैं’ में बर्बर युग का वर्णन हुआ है। जंगली मनुष्य का वर्णन करते हुए निबंधकार लिखते हैं कि ये अपरिष्कृत वर्ग धीरे-धीरे पत्थर के ढेले और पेड़ की डालों का प्रयोग करने लगा और हथियारों का निर्माण भी करने लगा। उसने धातु का हथियार बनाए, लोहे का अस्त्र-शस्त्र बनाये। आर्य संस्कृति के अस्तित्व के पहले का जो इतिहास है उसका प्रतिपाद्य प्रस्तुत निबंध में हुआ है।

‘आम फिर बौरा गए’ निबंध का आरंभ एक लोकोक्ति के आधार पर हुआ है। आरंभ के साथ ही आम्र शब्द का, भाषा वैज्ञानिक स्तर पर गवेषणात्मक इतिहास प्रस्तुत करते हुए द्विवेदी उसकी वर्तमान परिणति का तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत करते हैं। आम्र मंजरी के विविध संदर्भों की खोज में वे कालिदास के काव्य से लेकर कामशास्त्र, सरस्वती कंठाभरण, मत्स्य सूक्त, हरिभक्ति विलास, तांत्रिक ग्रन्थ, काम गायत्री और कृष्ण गायत्री तक की विस्तृत यात्रा कर आते हैं और वसन्त पञ्चमी के अनुपलब्ध संदर्भों का उद्धाटन करते हैं। आर्यों एवं असुरों की शत्रुता का इतिहास प्रस्तुत करते हुए और अनिरुद्ध के विवाह के समय उनके अंतिम युद्ध का वर्णन करते हैं। इसी युद्ध में कामावतार प्रद्युम्न ने आम्र कोरको के बाण से बिच्छु को पराजित किया होगा। इस प्रकार द्विवेदी जी आम्र कोरकों और बिच्छु संबंधी किवदन्ती के तथ्यान्वेषण के बहाने आर्यों और असुरों की संस्कृतियों का इतिहास एवं उनके प्रवृत्त्यात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हैं। अंततः गंगा की सुवर्ण प्रसुमुत्तिका और मानव की आश्चर्यजनक शक्ति पर अपनी आस्था व्यक्त करते हुए कहते हैं कि “मनुष्य ही शुभ सृष्टि का नियन्ता है। मनुष्य सबकुछ को अपने अनुकूल एवं करतलगत करने के लिए जूझनेवाला और आश्चर्यजनक है।”¹

प्रस्तुत निबंध में भक्तिकाल के कवि कबीरदास तथा पुराणकाल के कवि वात्मीकी, व्यास आदि पर परामर्श हुआ है। आधुनिक काल का चित्रण भी इसमें देखा जा सकता है।

‘अशोक के फूल’ निबंध में निबंधकार कहते हैं कि अशोक वृक्ष ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पुराणकाल से लेकर इसकी महिमा रचनाकारों के द्वारा गाया गया है। कालिदास के पूर्व इस पुष्प की चर्चा महाभारत में मिलता है। उसमें ऐसी

¹ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 49

अनेक कथाएँ हैं जिनमें संतान की कामना लेकर स्त्रियाँ इस वृक्ष के पास जाती थीं। लेखक बताते हैं कि भारत, बोधगया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में संतानार्थिनी स्त्रियों का, यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। रामायण में रावण की विलास भूमि के रूप में अशोक वाटिका का चित्रण हुआ है। सीता, अशोक वृक्ष के नीचे अपने पति की प्रतीक्षा करते रही। रावण ने शायद सोचा होगा कि अशोक वन का सौन्दर्य, सीता को अपनी ओर खींच लेगा। कालिदास के बाद भी यह वृक्ष भारतीय साहित्य का विषय बना है। कुछ धर्म ग्रंथों में यह बताया गया है कि स्त्रियाँ व्रत लेकर, अशोक की आठ पत्तियाँ खाने से संतान कामना पूर्ण होगी। 'अशोक कल्प' में अशोक के लाल तथा सफ़ेद फूल का परामर्श मिलता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य पर अशोक का गहरा प्रभाव है।

'अशोक के फूल' निबंध में मुसलमानों का आक्रमण तथा हिन्दू जनता पर उनके आधिपत्य का उल्लेख किया है। मध्यकाल में भारत अपना अस्तित्व खोये हुए जीवन बिता रहे थे। अशोक का जो फूल है जिसकी हिन्दू जनता आदर करते थे, उसकी प्रधानता इस समय पूर्ण रूप में नष्ट हो गया था।

इतिहास की दृष्टि से देखें तो 'दीपावली – सामाजिक मंगलेच्छा का प्रतिमा पर्व' निबंध में बुद्धदेव के ज़माने में दीपावली मनाने का परामर्श मिलता है। गुप्तकाल का वर्णन भी इसमें हुआ है।

इतिहास की दृष्टि से देखें तो भी 'वर्षा-घनपति से घनश्याम तक' निबंध संपन्न है। भागवत की इन्द्रपूजा, गोवर्धन पूजा आदि पुराणकाल का चित्रण इसमें देखा जा सकता है। मध्य युग में जो भक्तिकाल है, उस समय के कवि सूरदास द्वारा रचित गोवर्धन पूजा का वर्णन भी प्रस्तुत निबंध में है। इन्द्रदेव और श्रीकृष्ण के बीच का

संघर्ष द्वापर युग की घटना है। सन ईसवीं से कुछ सौ वर्ष पूर्व से लेकर कुछ सौ वर्ष बाद तक भारत में अनेक विदेशी मानव मंडलियाँ आती रही थी, इसका वर्णन भी द्विवेदी ने प्रस्तुत निबंध में की है।

‘ठाकुरजी की बटोर’ नामक निबंध में हिन्दू-मुस्लिम आक्रमण के बारे में द्विवेदी लिखते हैं कि इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू संस्कृति का तेज़ म्लान हो गया था, दर्प हत हो गया था, पर वह हार मानने को तैयार नहीं था। वह कुचली हुई वन्य वीरुध की भांति म्लान होकर भी सजीव थी। फिर से पनप उठने के लिए सचेष्ट थी, निरुपाय होकर वह जिधर सुविधा पाती उसी तरफ आश्रय को लपक पड़ती। इसी समय दक्षिणी आसमान से कई तेज-पुञ्ज ज्वलंत ज्योतियाँ उत्तर की ओर बड़े वेग से दौड़ती हुई नज़र आईं। इन प्रकाश की किरणों से मालूम हुआ, इस कुचली हुई संस्कृति-लता को एक सहारा मिला है। यह सहारा था वैष्णव धर्म यानी भक्तिवाद।

इस प्रकार द्विवेदी ने सांस्कृतिक उत्थान-पतन के विस्तृत इतिहास के साक्ष्य पर उसकी विभिन्न परिणितियों को उद्घाटित करते हुए आधुनिक समाज में व्याप्त सांप्रदायिक एवं संकुचित जातिवाद जैसी प्रवृत्तियों एवं शास्त्र संबंधी रूढ़ अवधारणाओं को अलवार के संतों, रामानंद द्वारा पूजित चण्डाल, भक्त हरिदास, कृष्णदास, अधिकारी एवं अखण्डनन्द विग्रह भगवान् श्री कृष्ण के साक्ष्य पर खण्डित करते हैं। मुसलमानों की सांप्रदायिक संकुचितता एवं अंग्रेज़ों की कूट नीति के प्रति खेद प्रकट करते हैं। ‘ठाकुर बारी’ की समस्या को वैश्विक संदर्भ में जोड़ते हुए कहते हैं कि सारे विश्व की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक सभी प्रकार की गुरुतर समस्याओं का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबाव पड़ रहा है।

इतिहास की दृष्टि से प्रस्तुत निबंध संपन्न है। जलप्रलय की कहानी इसमें कही गई है। यह आदिम पुरुष मनु और श्रद्धा की कथा है। जलप्रलय के समय बिच्छू जैसा दिखाई दे रहा था, आज भी वह ऐसा ही है।

आर्यों और असुरों का संघर्ष इसका प्रतिपाद्य है। साथ ही साथ निबंधकार बताते हैं कि ऐसा ज़माना भी था कि हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच लड़ाई चल रही थी। उस समय अनेक बच्चों और स्त्रियों को मार डालना, चलती गाड़ियों से फेंकना, मनोहर घरों में आग डालना ये सब मामूली बातें थीं। द्विवेदी कहते हैं कि पुराने इतिहास पर प्रकाश डाले तो वर्तमान इतिहास निराशजनक नहीं मालूम होता है।

प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी ने 'होली' का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है जो मध्यकाल का उत्सव था। मध्यकाल हिन्दू और मुसलमानों की लड़ाई का ज़माना था, इसका इतिहास निबंधकार ने इसमें खींचा है।

'प्रायश्चित की घड़ी' नामक निबंध में द्विवेदी ने भारतीय समाज में जाति प्रथा के इतिहास का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि यह जो नाना जाति-उपजातियों में विभक्त हिन्दू हैं, वह प्रधान रूप से धर्म की स्थिति शीलता में विश्वास करता है। उसके मत से समाज की यह शृंखला आदिकाल से चली आ रही है, परंतु अनेक की सामाजिक मर्यादाओं के उतार-चढ़ाव के इतने प्रमाण मौजूद हैं कि यह कह सकना साहस मात्र रह गया है कि दीर्घकाल से यह मर्यादा ज्यों की त्यों चली आ रही है।

पंडितों ने वैदिक साहित्य के अध्ययन के बल पर यह प्रमाणित किया है कि मूल आर्य जाति में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ये तीन ही स्तर थे। वैश्य साधारण जनता थी, जो कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य से जीविका चलाती थी। वैदिक युग में ही 'बानी' नामक एक श्रेणी थी, जो व्यवसाय करती थी। बनिया जाति वस्तुतः राजपूतों का रूपांतर है। कुछ ऊँची जातियों का पुराना इतिहास तो निश्चयपूर्वक

युद्ध-निग्रह और राज्यशासन का इतिहास है। पंजाब के यौधेय बड़े गर्विले क्षत्रिय थे। कालान्तर में इनको तलवार छोड़कर, तराजू पकड़नी पड़ी और यही प्रसिद्ध अग्रवाल जाति है और धर्मान्तर करनेवाले अब भी सिद्ध में 'जोहाआ' के नाम से अपना अलग अस्तित्व बनाये हुए है। गुजरात के कुछ ब्राह्मणों और बंगाल के कायस्थों के आसरद और गोत्र एक देखकर कुछ देशी पंडितों ने अनुमान किया था कि कायस्थ जाति वस्तुतः ब्राह्मण है। कायस्थों में अपने को क्षत्रिय मानने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, राजपूती सेना का वह अंग, जो कलेवा की रक्षा करता था, आगे चलकर कलवार के रूप में बदल गया। राजपूतों के कलेवा में मादक द्रव्य भी होता था और आगे चलकर इसी मादक द्रव्य ने कलवार की सामाजिक मर्यादा घटा दी।

इतिहासों में इस बात के अनेक सबूत हैं कि आर्थिक स्थिति अच्छे होते ही कई जातियाँ क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण बन गईं। आर्थिक विषमता के कारण कभी कभी एक ही जाति दो भागों में बंट गई है। सम्पन्न श्रेणी ऊँची जाति में मान ली गई है और असंपन्न श्रेणी नीची जाति में। बुनना, इस देश में बुरा पेशा समझा जाता था। जुलाहों की सामाजिक मर्यादा बराबर नीचे रही है, परंतु एक ऐसी ज़माना भी गया है, जब बुनने की कारीगरी बहुत उन्नत हो गई और सम्राटों के घर बुननेवालों का सम्मान होने लगा।

भारतीय समाज अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए बहुपक्ष को निम्न जाति नाम के दल में धकेल दिया। इस प्रथा की निरंतरता ने बार-बार हमारे सभ्य होने और हमारे मानवीय मूल्यों पर प्रश्न चिह्न लगाया है। बिना किसी अपराध के समाज के एक वर्ग का, हम अपने अहं की तुष्टि के लिए निरंतर शोषण करते रहे, यह हमारी क्रूरता और अन्याय है। इससे लोक की दयनीय स्थिति का भी बोध करवाता है। लेखक द्वारा प्रस्तुत किया गया इस प्रथा का इतिहास परोक्षतः यह सिद्ध करता है कि

हमारी संस्कृति में शास्त्र और लोक के द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न करने और इस द्वंद्व के परिणाम स्वरूप क्रिया- प्रतिक्रिया के परिणाम के रूप में अनंत संप्रदायों के उदय और अनंत नई जातियों और उपजातियों के निर्माण और उसके परिणाम स्वरूप सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि हर क्षेत्र में शोषण की प्रक्रिया के लिए निश्चित ही हमारा तथाकथित उच्च समुदाय ही जिम्मेदार है। जो लोग इस प्रथा की सांस्कृतिक निरंतरता की बात कहकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उसके लिए हम किसी प्रकार से उत्तरदायी नहीं हैं, वस्तुतः यह उनकी नई चाल है, इस शोषण की प्रक्रिया को जारी रखने की। इस प्रथा का इतिहास बतलाता है कि इसमें समय-समय पर परिवर्तन हुए हैं और निसंदेह आज भी संभव है। परंतु इसके लिए समाज के भिन्न वर्ग को कहीं भी उच्च समुदाय पर न तो निर्भर करना होगा और न ही विश्वास। इसके लिए तो उन्हें स्वयं ही प्रयास करना होगा, जो निश्चित ही आज एक विद्रोह अथवा आन्दोलन सा लगेगा। उच्च समुदाय को तो अपने द्वारा शताब्दियों से किए जा रहे अपराध के प्रायश्चित्त के लिए स्वयं को मात्र मानसिक रूप से तैयार करना होगा। तभी हमें यह मालूम पड़ेगा कि उन द्वारा निरंतर लगाए जा रहे 'भारत माता की जय' अथवा 'भारत माता का उद्धार करो' जैसे के पीछे कितनी गंभीरता है और कितनी ईमानदारी। प्रस्तुत निबंध के विश्लेषण से पता चलता है कि इसमें इतिहास का तत्त्व निहित है।

इतिहास की दृष्टि से 'संस्कृतियों का संगम' निबंध अत्यंत प्रभावशाली है। निबंधकार लिखते हैं कि उत्तर और दक्षिण के प्रागैतिहासिक युग के इतिहास में एक बड़ा भारी अंतर यह है कि उत्तर में प्रस्तुत युग और लौह युग के बीच में ताम्रयुग आता है, जब कि दक्षिण में प्रस्तर युग के बाद एकदम लौह युग आ जाता है। छोटा नागपुर की खुदाईयों से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। विद्वानों ने अनुमान से कहा है

कि द्रविड़ जातियों ने मुण्डा या कोल जातियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। सन 1924 ई. में डॉ. राखालदास बांर्जी ने मोहजोदाडो में और पण्डित दयाराम साहानी ने हाराप्पा में धरती के नीचे गड़ी हुई अत्यंत समृद्ध आर्यपूर्व सभ्यता का पता लगाया। ऐसे भवनों का आविष्कार हुआ, जिनमें बहुत सी महत्वपूर्ण वस्तुएँ उपलब्ध हुईं। ये सारी चीज़ें ईसा पूर्व तृतीय सहस्राब्दक में उपलब्ध सुमेरियन वस्तुओं से बहुत मिलती थीं। बलुचिस्थान में ब्राहुई नामक द्रविड़ भाषा का संधान पहले ही पाया जा चुका था। यह तो निश्चित है कि ईसामसीह के हज़ारों वर्ष पहले द्रविड़ सभ्यता का, मेसोपोटोमिया मिश्र और बाबिलोनिया आदि की सभ्यता से घनिष्ठ संबंध था।

‘हिमालय’ निबंध में निबंधकर बताते हैं कि हिमालय की किरात जातियों का इतिहास भी महाभारत और रामायण से मिल जाता है। शिव के उपासक किरातों की चर्चा महाभारत में बहुत है। किरातों और चीनों को साथ साथ गिनाया गया है। वस्तुतः चीनों को किरात ही भारत भूमि से अलग करते थे। उनकी मध्यस्थता में ही चीनों का संपर्क भारतभूमि से होता था। ऐसा जान पड़ता है कि चीन लोग पूर्व सीमांत से ही भारत पहुँचे थे। उन्हें पूर्व की जातियों में ही गिना जाता था। उनके चीनों शुक या रेशम का काम भारतवर्ष में पसंद किया जाता था और भारतीय सम्राटों के अभिषेक के समय चीन जाति जाति के प्रतिनिधियों द्वारा भेंट किया जाता था। महाभारत में चीनों के साथ गान्धारों की जो चर्चा आती है, वह कदाचित् पूर्व विदेह के निवासी रहे हैं। वन पर्व में हिमालय के कोने-कोने में बसनेवाली जातियों की चर्चा है। किरातों को महाभारत में नुकीली, चोटीवाले, सोने के रंग के कच्चा मांस और मछली खानेवाले और बहादुर बताया गया है। इसी प्रकार तुषारों, कुचिकों, विद्याधरों, किन्नरों, खस्ते, काम्बोदो आदि का विस्तारपूर्वक उल्लेख है।

भारतवर्ष के महामानव समुद्र को रूप देने में इन जातियों का बहुत महत्वपूर्ण योग है। इनका कला-प्रेम, संगीत-प्रेम और अपेक्षाकृत स्वच्छंद जीवन भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बन गये है। हिमालय के विभिन्न भागों में बसी हुई जातियों की परंपराओं के सम्यक अध्ययन से हमारे इतिहास की अनेक गुथियों से सुलझाने की आशा है। यही द्विवेदी का मत है।

‘वैशाली’ निबंध इतिहास की दृष्टि से संपन्न है। इसमें द्विवेदी अपना मत प्रकट करते हुए लिखते हैं कि बौद्ध परंपरा से पता चलता है कि वैशाली नगरी कई बार बढाई गई, नगर प्रकारों को कई बार हटाकर बढाया जाता रहा। इस प्रकार नगरी निरंतर विशालकाय बनती गई और इसी लिए वैशाली कही गई। कहा गया है कि उसमें प्रसाद है, इतने ही कुटागर इतने ही उद्यान और इतने ही पुष्करिनियाँ थीं। यह नगरी बहुत ही समृद्ध और जनसंकुल थी। जैन परंपरा से यह भी पता चलता है कि ब्राह्मणों के, क्षत्रियों के और वैश्यों के अलग अलग उपनगर थे। वर्तमान बानिया ग्राम को पुराने वाणिय ग्राम का अवशेष बताया जाता है।

आज से करीब सौ वर्ष पहले (1862 ई.) भारतीय पुरावृत्त के महान प्रेमिक अलेक्सेंडर कनिंग यहाँ आये थे। उनकी पैनी दृष्टि से इस नगरी को पहचाना था। उनके पूर्व 1834 ई. में जे. स्टिकेंसन ने भी इस स्थान को पहचाना था, पर कानिंग की यात्रा ही इसके पुनरुद्धार का वास्तविक हेतु सिद्ध हुई। कानिंग ने आसपास की बस्तियों के नाम और किंवदन्तियों से अनुमान किया था कि यही प्रसिद्ध वैशाली नगरी है जिसकी चर्चा बौद्ध और जैन परंपरा में मिलती है और चीनी यात्रियों के अपने विवरणों में सुरक्षित रह गई है। सन 1903 – 04 ई. में आस्क्वोल्लिजकल सर्वे के.टी.ब्लाश ने और कई दस वर्ष बाद डी.बी.स्पूनर ने गढ़ के पास कुछ खुदाई का काम शुरू किया। ब्लाश और स्पूनर को चार ऐसे सोल मिले जिन पर वैशाली नाम

खुदा मिला था। यद्यपि उनकी खुदाई इस स्थान के इतिहास को बहुत पुरानी वैशाली का विशेष संधान नहीं बता सकी, बहुत कुछ वे गुप्तकाल तक का ही संधान पा सके परन्तु यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि वसाढ़ गाँव वैशाली का ही रूप है। यहाँ के खंडहर वैशाली का ही स्मरण दिलाते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1950 ई. में हमारी संस्कार के पुरातत्व विभाग में इसकी ओर जांच की और श्रीकृष्ण और श्री विजयकांत मिश्र ने इस नये प्रयत्न के परिणामों का विवरण प्रकाशित किया है। इससे हम वैशाली के और भी पुरातन इतिहास का संधान पाते हैं। अब हम वैशाली की उन मनुष्य कृत कृतियों का संधान पाते हैं, जो आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले की हैं। धरती तो बहुत पुरानी है। हम ढाई हज़ार वर्ष पहले के मनुष्य के हाथों का स्पर्श अनुभव करने लगे हैं। उसके चित्त में सौन्दर्य और शालीनता का जो रूप था, मानसिक और आध्यत्मिक भावों की जो उमंग थी, राजनैतिक और व्यावसायिक महिमा का जो उल्लास था, उसका किंचित स्पर्श पाकर आज हम उल्लसित हैं। मनुष्य समाहित चित्त में लोक और परलोक का जो चारु कल्पना थी, उसे हमें साक्षात् अनुभव करने का अवसर मिला है, मिट्टी के ठीकरे और बर्तन ईट-चुने के भग्नावशेष लोहा लकड़, प्रस्तर-मूर्तियाँ हमें उत्तेजित करती हैं।

इतिहास की दृष्टि में 'हिन्दू संस्कृति के अध्ययन के उपादान' एक सफल निबन्ध है। सन 1907 ई. में प्रो. ह्यूगों पिंग्लर को एशिया मईनर के बोगाज़-के उई स्थान पर एक अचरज में डालनेवाला लेख मिला। यह लेख एक सन्धी-पत्र है, जो दो विवदमान जातियों के बीच हुई सन्धी का पता बताता है। विवाद्शील दलों में एक हिताइट राजा था और दूसरा मितन्ति। इनमें कुछ देवताओं का नाम पाए गये हैं। वस्तुतः ये वैज्ञानिक देवता मित्र, वरुण, इंद्र और नासत्य हैं। इस सूचना ने वैदिक साहित्य के अध्येताओं को नये सिरे से सोचने को बाध्य किया। इस सन्धि पत्र का

समय 1400 ई. के पूर्व निश्चित किया गया है। यूरोपियन पण्डित वैदिक साहित्य की पूर्वा सीमा 1200 ई. के आसपास रखे गये थे। पार्जिटर ने पौराणिक वंशावली के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि आनव राजाओं ने उत्तर – पश्चिम के देशों पर अधिकार करके, और भी उत्तर को और विजय –यात्रा की थी। उन्हीं लोगों ने 1400ई . पूर्व में हिटाईट के राजाओं के साथ सन्धि की होगी। पार्जिटर ने यह निष्कर्ष निकाला कि महाभारत की लड़ाई , जिन राजाओं के काल में हुई थी, उनसे लगभग 55 पीढ़ी पहले आनव राजा लोग इरान को जीतकर और सन ईसवीं से कोई 950 वर्ष पहले हुई थी और 55 पीढ़ियों का औसत शासनकाल यदि 12 वर्ष रख लिया जाय तो यह आर्याविजय अभियान सन् ईसवीं से कोई 950 +660 = 1610 अर्थात् कोई 1600 वर्ष पहले हुआ होगा। वहाँ ये राजा लोग अन्य शासकों से संघर्ष में आये होंगे और यदि यह मान लिया जाय कि दो सौ वर्षों के बाद उन्हें सन्धि करनी पड़ी। इस प्रकार के इतिहास का चित्रण प्रस्तुत निबन्ध की विशेषता है।

हमारे पुराने इतिहास में इस संबन्ध में अनेक ऐसे कार्य किये हैं, जो आसध्य लगते हैं। 'गुरु-शिष्य परंपरा' नामक निबंध में द्विवेदी लिखते हैं कि विष्णुगुप्त चाणक्य और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य ने विश्विजयी का दम्भ पोषण करनेवाले अलक्सांडर की दुर्दान्त सेना का मानमर्दन किया था और अन्याचारी नन्द साम्राज्य को समूल ध्वंस करके महान चक्रवर्ती राज्य का शिलान्यास किया था। मध्ययुग में महान गुरु गोविन्द सिंह और उनके शिष्यों ने उस समय के सबसे शक्तिशालि साम्राज्य की जड़ हिला दी थी और भारतीय विजय की पताका काबुल नदी के उस पार तक फहरा दी थी। इतिहास में गुरु – शिष्य संबन्ध की कहानियाँ बहुत मिलती हैं।

'पुरानी पोथियां ' निबंध में द्विवेदी ने बहुत पुराने ग्रंथों के इतिहास पर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि अब तक संस्कृत की पुरानी पोथियाँ जो मिल सकी हैं,

उनमें सर्वाधिक प्राचीन पुस्तक एक तालपत्र पर लिखी हुई है। इसकी लिखावट सूचित करती है कि यह ईसा की दूसरी शताब्दी की रचना है। इसमें किसी नाटक का कुछ अंश विद्यमान है। कालक्रम से दूसरी उपलब्ध रचना 'संयुक्तागम' नामक बौद्ध सूत्र है जो भोजपत्र पर लिखा है। इसके बारे में अनुमान है कि यह चौथी शताब्दी का है। वे कहते हैं प्रसिद्ध विद्वान वावर जब कूच में ब्रिटिश रेजिडेंट थे, तब दो तुर्कों ने उन्हें भोजपत्र पर लिखी हुई कुछ पोथियाँ दिखाई जो उन्हें एक विध्वस्त स्तूप में मिली थी। उनकी जाँच करने पर उन पोथियों ने संस्कृत साहित्य के इतिहास में क्रांति ला दी। बहुत-सी पुस्तकों का काल-निर्णय आसानी से हो गया। ईसवीं सन की पाँचवीं शताब्दी की कुछ पोथियाँ ऐसी भी मिली हैं जो कागज़ पर लिखी हुई हैं। अनुमान है कि कागज़ पर लिखी हुई ये सबसे प्राचीन हैं। द्विवेदी लिखते हैं कि इन तथा अन्य अनेक प्राचीन पुस्तकों से केवल पुस्तकों की तिथि निश्चय करने में ही सहायता नहीं मिली है, बल्कि अन्य अनेक बातों के अध्ययन में भी सहायता मिली है और पूर्ववर्ती इतिहासज्ञों की अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण भी हुआ है। इन पुस्तकों ने भारत वर्ष के साथ बाहरी दुनिया के संबंध निर्णय में भी बहुमूल्य सहायता पहुँचाई है। ताल पत्र पर लिखी हुई जो दो पुस्तकें जापान के होरियुजी मठ में सुरक्षित हैं, उनकी लिखावट से अनुमान लगाया है कि उनका रचना काल छठी शताब्दी के आसपास का है।

भोजपत्र, तालपत्र या कागज़ पर लिखी गई अनेक रचनाओं के अतिरिक्त बहुत से शिला लेखों ने भी हमारी अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया गया। सन 1883 ई. में मैक्समुलर ने संस्कृत साहित्य के विषय में यह धारणा व्यक्त की थी कि इस देश में बाहर से आनेवाली अनेक जातियों के आक्रमण के कारण संस्कृत साहित्य की रचना कुछ समय के लिए बंद हो गई थी और बाद में गुप्त सम्राटों के

समय में उसका पुनरुद्धार हुआ।² जब कि मायक्समुलर के इस मत को महाक्षत्रप रूद्र दामा के गिरनार वाले लेख एकदम निराधार बना दिया। इससे यह प्रमाणित हो गया है कि गुप्त सम्राटों के पूर्व भी संस्कृत में सुन्दर, अलंकृत गद्यकाव्य लिखे जाते थे। इतना ही नहीं, लेखक के अनुसार अब तो सैकड़ों ललित काव्य और कवियों का पता शिला-लिपियों से चला है। इस प्रकार यद्यपि अभी भी भारत वर्ष के अनेक शिला-लेख पढ़े नहीं जा सके हैं, तथापि अनेक दृष्टियों से इन लेखों ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अध्ययन में महत्वपूर्ण सहायता पहुँचाई है। विभिन्न कवियों व साहित्यकारों की रचनाओं ने जहाँ हमारे प्राचीन साहित्य पर प्रकाश डाला है, वहाँ अनेक अन्य ग्रंथों ने हमारी दार्शनिक चिंतन पद्धति और बौद्ध संप्रदाय को विशेष रूप से समझने में हमारी महत्वपूर्ण सहायता की है। लिखने के लिए कागज़ का निर्माण बहुत बाद में हुआ। कहा जाता है कि चीनवालों ने 105 ई. में पहले-पहल कागज़ बनाया था। परंतु द्विवेदी लिखते हैं कि करीब साढ़े चार सौ वर्ष पहले का एक प्रमाण ऐसा भी मिलता है, जिससे साबित होता है कि हिन्दुस्ताना लोग भी रूई के चिथड़ों को कूटकर कागज़ बनाया करते थे। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि रूई को कूटकर जो तैयार किया जाता था, वह कागज़ नहीं कपड़े का 'पट' जैसी कोई चीज़ थी। परंतु मैक्समुलर जैसा विद्वान इससे सहमत नहीं हो पाया। उसने उसे स्वीकार ही कर लिया। इतना होने पर भी हमें कागज़ पर लिखी पुस्तकें पुरानी से पुरानी पाँचवीं शताब्दी की मिलती हैं। शायद उसका कारण यह रहा है कि एक तो रूई के चिथड़ों से तैयार कागज़ महँगा पड़ता था, दूसरे इस कागज़ के बदले भोजपत्र और तालपत्र आसानी से उपलब्ध हो जाते थे।

द्विवेदी के अनुसार लेखन के लिए भोजपत्र, ताम्रपत्र और कागज़ के अतिरिक्त शिला-पट्ट, स्वर्ण चाँदी ताँबे आदि का भी प्रयोग होता रहा है। हमारा बहुत सा

² हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 240

साहित्य अनेक गुफाओं, मंदिरों, मठों, स्तूपों या स्तंभों की शिलाओं पर अंकित रूप में भी प्राप्त हुआ है। अशोक के दो स्तंभों का पुरातत्व क्षेत्र में अपना महत्व है। काश्मीर के शैव दर्शन का मूल ग्रंथ शिलाओं पर ही अंकित रूप में प्राप्त हुआ था। द्विवेदी लिखते हैं कि एक सुन्दर काव्य एक पत्थर पर खुदा ऐसा भी पाया गया है, जो किसी शौकीन ज़मीनदार की मोरियों की शोभा बढ़ा रहा था। इसी प्रकार हमारा इतिहास बताता है कि हुएनत्सांग ने एक स्थान पर लिखा है कि महाराज कनिष्क ने 'त्रिपिटक' का नूतन संस्कार कराकर, ताम्रपत्रों पर उन्हें खुदवाकर किसी स्तूप में गडवा दिया था। कुछ जैन मंदिरों में भी चाँदी पत्र पर खुदे हुए पवित्र लेख मिलते हैं, ताँबे के पत्थरों पर भी अनेक लेखों की सूचना पुरातत्व विभाग के पास मौजूद है।

पुरानी पोथियों की खोज और उनका उद्धार अपने आप में जिनता चुनौतीपूर्ण कार्य था, उससे भी कठिन कार्य है, उनकी लिपियों की जानकारी। जब तक उन पोथियों में लिखित सामग्री की लिपि ही नहीं पढ़ी जाएगी तब तक हमारे लिए उन पोथियों का मूल्य किसी स्मृति चिह्न से अधिक नहीं है। भारत में जिस समय अंग्रेज़ों ने इस दिशा में कार्य करना शुरू किया था, उस समय उन्हें अनेक प्रकार की कठिनाईयों का सामना करना पड़ा था। सर विलियम जोन्स ने जब पहली अशोक के स्तंभ के लिपियों की छाप यह सोचकर बनारस के हाकिम के पास भेजी कि बनारस, संस्कृत, हिन्दी आदि प्राचीन भाषाओं के पंडितों का गढ़ है तो वहाँ के एक पंडित ने उस छाप को महाभारत के समय का घोषित करके उसे युधिष्ठिर के गुप्त वनवास का लेख कहकर पढ़ लिया। परंतु यह विलियम जेम्स का ही संकल्प था कि "वह फिर भी इस क्षेत्र में प्रयासरत रहा और फल स्वरूप सन 1834 ई. में कप्तान ट्रायर ने आशीक के प्रयागवाले स्तंभ का कुछ अंश पढ़ लिया जिसे उसी वर्ष डॉ. मिल ने पूरा पढ़ दिया। पुरानी लिपि के संदर्भ में अंग्रेज़ी की यह बहुत बड़ी सफलता थी

अन्यथा भारतीय पंडित तो सात-आठ सौ वर्ष तक की प्राचीन लिपि को ही थोडा बहुत पढ़ पाने में सफल हुए थे।³ डॉ.मिल ने अपनी इस उपलब्धि से उत्साहित होकर 1837 ई. में एक और स्तंभ को पढ़ लिया, जिस पर स्कन्दगुप्त ने एक लेख लिखवाया था। इस प्रकार 1837 ई. गुप्त लिपि पूरी तरह पढ़ ली गई। परंतु अभी ब्राह्मी और खरोष्ठी जैसी मुख्य लिपियाँ शेष थी, जो प्राचीन भारत की मुख्य लिपियाँ रही थी। अंग्रेज़ विद्वानों ने अपना प्रयास जारी किया। 1837 ई. में और एक विद्वान जेम्स प्रिन्सेप ने ब्राह्मी लिपि को पढ़ने का कठिन प्रयत्न किया। उन्होंने इलाहाबाद, रधिया, मधिया और दिल्लीवाले लेखों को मिलकर यह निष्कर्ष निकला कि ये चारों लेख एक ही लिपि के हैं। इस प्रकार ये विद्वानों ने एक साथ मिलकर पूरी ब्राह्मी वर्णमाला पढ़ी। इस लिपि को पढ़ने का परिणाम यह हुआ कि समूचा प्राचीन भारत अपने ऐतिहासिक सांस्कृतिक सत्य के साथ आईने में उतर आया। हमारी अनेक भ्रांत धारणाओं का निवारण हुआ। हमें हमारी ही परंपरा का, सांस्कृतिक का वह रूप स्पष्ट हुआ जिसे अभी तक हम अनभिज्ञ थे। ब्राह्मी के पढ़े जाने के बाद भारतवर्ष की अन्य लिपियों का पढ़ना सुगम हो गया।

आलोच्य निबंध हमें बतलाता है कि आज भारतवर्ष यदि विश्व के सम्मुख अपनी श्रेष्ठ सांस्कृतिक विरासत को लेकर गौरवान्वित हो उठता है तो उसका आधार है वह पुरानी पोथियाँ। इस क्षेत्र में अंग्रेज़ विद्वानों का प्रयास स्तुत्य रहा है, परंतु भारतीय विद्वानों ने भी इस कार्य में अपना सहयोग दिया है।

इतिहास की दृष्टि से देखें तो 'भारतीय संस्कृति और हिन्दी का प्राचीन साहित्य', निबंध में बौद्ध धर्म, वैष्णव धर्म आदि का इतिहास विद्यमान है। द्विवेदी लिखते हैं कि गोरखनाथ का जिस काल में आविर्भाव हुआ था, वह समय भारतीय साधना में बड़े उथल-पुथल का है। एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे

³ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 244

थे और दूसरी ओर बौद्ध साधना क्रमशः मंत्र-तंत्र, टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दसवीं शती में यद्यपि ब्राह्मण धर्म संपूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था, तथापि बौद्धों, शैवों और शास्त्रों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद के प्राधान्य को नहीं मानता था। यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत कोशिश की कि उनके मार्ग को श्रुति-सम्मत मान लिया जाय, परंतु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शक्त संप्रदाय उन दिनों वर्तमान थे, जो वेदाचार को अत्यंत निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण प्राधान्य को बिलकुल नहीं स्वीकार करते थे।

ईसवीं सन की बारहवीं शताब्दी में बिहार और काशी में बौद्ध धर्म खूब प्रभावशाली था। उसके हजारों अनुयायी थे, मठ, विश्वविद्यालय थे और विज्ञान भिक्षुओं का बहुत बड़ा दल था। “सन 1193 ई. में कुतबुद्दीन के सेनापति मुहम्मद बख्तियार ने नालंदा और ओदंतपुरी के विहारों और पुस्तकालयों को नष्ट किया। जब विजेता सेनापति ने स्थानीय लोगों से पुछवाया कि इन पुस्तकों में क्या है, तो बतानेवाला व्यक्ति वहाँ नहीं मिला। संभवतः पहले से ही विद्वान भिक्षु भागकर अन्यत्र चले गए थे।”⁴

मुस्लिम आक्रमण के कारण बौद्ध संत और विद्वज्जन चारों ओर छितरा गए। कृष्णदास कविराज नामक एक बंगाली वैष्णव संत ने 1582 ई. में प्रसिद्ध पुस्तक ‘चैतन्यचरितामृत’ लिखी। चैतन्य महाप्रभु की 1533 ई. में हुई थी। चैतन्य चितामृत के अनुसार चैतन्य देव जब द्रविड़ देश में गए थे तो वहाँ आरकाट जिल्ले के किसी स्थान पर एक बौद्ध विद्वान से उनकी बातचीत हुई थी। यह शास्त्र चर्चा 1510 ई. आसपास हुई होगी। इस घटना से अनुमान होता है कि ईसवीं सन की

⁴ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 185

सोलहवीं शती में बौद्ध पंडित दक्षिण में वर्तमान थे। तारानाथ ने लिखा है कि 1450 ई. में चंगलराज नामक किसी राजा ने गया में बौद्ध मंदिर बनाया था।

सन 1324 ई. में तिर्हत् के राजा को मुस्लिम आक्रमण के कारण भागना पड़ा। वह अपने साथ अनेक पंडितों को लेता गया। यद्यपि उसका राज्य दीर्घकाल तक स्थायी नहीं रह सका, पर उसके पश्चात् एक दूसरे हिन्दू राजा जयस्थिति ने पंडितों की सहायता से समाज स्तर-विभाजन कर दिया। उसने बौद्ध समाज को भी हिंदुओं की भांति नाना जातियों में विभक्त कर दिया। उसने प्रत्येक जाति का पेशा और उसकी सामाजिक मर्यादा भी तय कर दी। नेपाल में बौद्ध धर्म, बहुत प्राचीन काल से ही पहुँच गया था। अशोक काल से ही वहाँ इस धर्म के अस्तित्व का प्रमाण पाया जाता है। सातवीं शताब्दी के एक शिला लेख में वहाँ के सात शैव, छः बौद्ध तथा चार वैष्णव तीर्थों का उल्लेख है। आठवीं-नौवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म बड़े वेग से तांत्रिक साधना और कायायोग की ओर बढ़ने लगा। बाद में शैव योगियों का एक संप्रदाय नाथपंथ बहुत प्रबल हुआ, उसमें तांत्रिक बौद्ध धर्म की अनेक साधनाएँ भी अंतर्भूक्त थीं।

सोलहवीं सदी में उड़ीसा में छः बड़े भक्त वैष्णव कवि हुए थे। इनमें से पाँच समसामयिक हैं। छठे चैतन्यदास इनके थोड़े परवर्ती हैं। इनका आविर्भाव प्रातापरुद्र के राज्यकाल के अंतिम हिस्से में हुआ था।

सन 1529 ई. में उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र ने बौद्धों का दमन किया था। उन दिनों वहाँ अनेक बौद्ध थे। तारानाथ ने लिखा है कि उड़ीसा का अंतिम राजा मुकुंददेव, जिसे मुसलमानों ने राजच्युत किया था, बौद्ध था और उसने अनेक बौद्ध मंदिर और मठ स्थापित किए हैं। इस प्रकार इतिहास से संबंधित अनेक बातों का समावेश द्विवेदी ने प्रस्तुत निबंध में की है।

इतिहास का समावेश 'भारतीय फलित ज्योतिष' निबंध में देखा जा सकता है। उत्तर संहिता युग में स्पष्ट ही बताया जाने लगा कि अमुक नक्षत्र में यज्ञ करने से फल शुभ होता है, अमुक में अशुभ। इसवी सन के पहले की लिखी गई ज्योतिष संहिताओं में यज्ञ के अतिरिक्त विवाह आदि संस्कारों के लिए भी शुभ-अशुभ नक्षत्रों का विधान किया जाता है। महाभारत काल में शुभ मुहूर्त में विवाह करने की प्रथा चल पड़ी थी। ज्योतिष का यही प्राचीन अंग विकसित होकर मुहूर्त शास्त्र के रूप में परिणत हुआ।

कुछ यूरोपीय पंडितों की धारणा है कि गृह और राशियों का ग्रीकों ने भारत वर्ष में परिचय कराया था। यह परिचय भी हज़रत ईसा के तीन-चार सौ वर्ष बाद हुआ। हमारी अपनी यह धारणा है कि ग्रहों का ज्ञान आर्यपूर्व भारतीय जातियों में पहले से ही विद्यमान था और राशियों का परिचय हिंदुओं ने असिरियनों या असुरों से प्राप्त किया था। ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में भारतीय ज्योतिष में एक नया युग शुरू हुआ। इस प्रकार ज्योतिष के इतिहास का एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत निबंध से मिलता है।

II हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में संस्कृति

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी भारतीय संस्कृति के पुजारी हैं। इसलिए ही उनके सारे के सारे निबंधों में सांस्कृतिक तत्व भरा-पड़ा है। उनके निबंधों में धर्म, दर्शन, इतिहास, वर्ण, संस्कार ये संस्कृति के प्रमुख तत्व विद्यमान हैं। आगे इन तत्वों के आधार पर हर निबंध का विश्लेषण किया जायेगा।

'धर्म और दर्शन' निबंध में भारतीय संस्कृति में धर्म और दर्शन के महत्त्व को बताया गया है। भारतीय दर्शन का स्वरूप विश्व की दार्शनिक सोच से नितांत भिन्न रहा है।

वस्तुतः पाश्चात्य दर्शन मनुष्य के विचारों का वह शास्त्र है, जो 'आश्चर्य' से प्रारंभ होता है और तर्क द्वारा उसकी व्याख्या करने का प्रयास करता है। जब कि भारतीय दर्शन दुःख की व्यावहारिक सत्ता व्याख्या से प्रारंभ होता है और उसके निराकरण के लिए धर्म के अंतर्गत साधन मार्ग की विवेचना से संपन्न होता है। इस प्रकार यहाँ की संस्कृति ने दर्शन और धर्म की ऐसी मिश्रित दृष्टि विश्व को दे दी है जिसने समस्त विश्व का, इस क्षेत्र में पथ प्रदर्शन किया है। हमारे यहाँ का दर्शन स्थूल तथ्यों को छोड़कर उन सूक्ष्म तत्वों की खोज का प्रयास है, जो वास्तव में इस जगत के वास्तविक कारण है, जो अपने आप में आनंद स्वरूप है, और जिनसे मनुष्य का निश्चित रूप से सीधा अथवा परोक्ष संबंध है। परंतु दर्शन की स्थूल से सूक्ष्म की ओर यह यात्रा तब तक संभव नहीं, जब तक हम इस यात्रा के मार्ग में आये हुए विभिन्न तत्वों शरीर, प्राण और मन को शुद्ध नहीं करते। लेखक लिखता है कि यह जो बाह्य और अंतःकारणों की शुद्धि है, यही भारतीय दर्शनों की विशेषता है।

विभिन्न भारतीय साधना मार्गों में अन्तर देखनेवाले लोग यहाँ के विभिन्न संप्रदायों में एक ही उद्गम स्रोत को नहीं पहचान पाते। जब कि हमारे यहाँ की विभिन्न साधना पद्धतियाँ अपने-अपने ढंग से शरीर, प्राण और मन को संयत करने का निर्देश देती हैं। द्विवेदी बतलाते हैं कि नाना बौद्ध और शक्त साधनाओं में बिंदु (शरीर) को वश में करने की विधियाँ बताई गई हैं, हठयोग प्राण को वश में करने के पक्ष में है, राजयोग मन को वश में करने की विधि बताता है। अंततः बात आत्मसंयम की है, जिसे 'योग' कहा जाता है। इसी योग की प्रक्रिया को अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा संपन्न करके अंतःकरण शुद्ध तथा संयमित किया जाता है। अतः हमारी संस्कृति में योग साधना के साथ-साथ अभ्यास और वैराग्य के महत्व को भी बराबर समझा गया है।

निस्संदेह इंद्रिय-संयमन की विधि अभ्यास पर ही निर्भर करती है परंतु हमारे यहाँ के चिन्तक यह मान कर चलते हैं कि अभ्यास के साथ वैराग्य का भी होना आवश्यक है क्योंकि अकेला अभ्यास तो एक बार साधक को आंतरिक शुचिता तक ले जायेगा, परंतु संसार के प्रति बौद्धिक वैराग्य न होने की स्थिति में पुनः माया ग्रस्त होने की संभावना बनी रहेगी। इसीलिए लेखक लिखते हैं कि भारतीय मनीषियों ने केवल अभ्यास को ही एकमात्र साधन नहीं माना। वस्तुतः वैराग्य, साधक को मात्र संसार से ही विमुख नहीं करता, अपितु उसकी विषय वासनाओं के प्रति उत्सुकता और जिज्ञासा को भी शांत करता है, उसे प्रेम, मोह आदि से मुक्त करके उसकी चंचल इन्द्रियों को शांत करता है और अंतरात्मा की शुचित को तथा परमात्मा के चिंतन को साधक के भीतर स्थायी स्थान दिलवाता है।

भारतीय संस्कृति की कदाचिद सबसे विलक्षण उपलब्धि है, मनुष्य जीवन को विभिन्न ऋणों से बंधना। कथाचित इस घृण-कल्पना के पीछे हमारे मनीषियों की धारणा यह रही होगी कि ऋणी मनुष्य सदा एक दायित्व बोध से जुड़ा रहता है, जिसके कारण अनायास उसकी स्वच्छंदता पर, उच्छृंखलता पर तथा किसी ही प्रकार के अधार्मिक व्यवहार पर स्वयमेव एक अंकुश लगा रहता है। भारतीय विश्वास के अनुसार मनुष्य तीन प्रकार के ऋणों को लेकर पैदा होता है, ये तीन ऋण हैं – देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण। मनीषियों के अनुसार मनुष्य के पैदा होते ही प्रकृति द्वारा वह अभी सभी पदार्थ उपलब्ध हो जाते हैं, जो उसके जीवन के लिए नितांत आवश्यक है, यथा-वायु, जल, सूर्य आदि। अतः इसके लिए हम देवताओं से ऋणी हैं, जो हमें यह समस्त तत्व उपलब्ध करवाते हैं। इनके ऋण से मुक्ति का उपाय है कि हम देवताओं द्वारा प्रदत्त समस्त पदार्थ व तत्वों को बांटकर ग्रहण करे व उनको यथा संभव शुद्ध तथा सुन्दर बनाये रखने का प्रयास करें। हम इस संसार में

जन्म लेने के साथ ही ऋषियों के भी ऋणी बन जाते हैं क्योंकि मनुष्य पैदा होते ही अनेक विद्वानों और विज्ञानियों की आविष्कृत ज्ञानराशि को सहज ही पा जाता है। यही ज्ञान यदि हर व्यक्ति को अपने-अपने ढंग से नए सिरे से प्राप्त करना पड़ता तो मनुष्य शायद अभी सभ्यता के प्रथम चरण में ही बैठा होता। इसलिए हम इस सबके लिए अतीत के ऋषियों के ऋण हैं और उससे उऋण होने के लिए हमारा कर्तव्य है कि हम ज्ञान की इस धारा की रक्षा करें और इसे आगे प्रसारित प्रचरित करने में अपना सहयोग दें। तीसरा ऋण मनुष्य पर पिता का होता है जिसे पितृ ऋण कहा गया। मनीषियों का मानना है कि पैदा होते ही मनुष्य अपने संपूर्ण शरीर और इन्द्रियों को पा जाता है। ये इन्द्रियाँ उसे न मिलती तो न तो वह संसार का कुछ आनंद ही उपभोग कर सकता और न कुछ नया दे सकता। निश्चय ही वह माता पिता के निकट इसके लिए ऋणी है। इसीलिए पितृ ऋण से मुक्ति पाने का उपाय संतान उत्पन्न करना और उन्हें शिक्षित बनाकर समाज में हाथों सौंप जाने को बताया गया है। भारतीय संस्कृति में उक्त तीन ऋणों का इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि इनसे मुक्त हुए बिना साधना भी संभव नहीं है।

अहिंसा और मैत्री दो अन्य मूल्य ऐसे हैं, जिनका विश्व में प्रचार और प्रसार करने का श्रेय भारतीय संस्कृति को प्राप्त है। बौद्ध संप्रदाय ने इसी देश की सीमाओं से निकलकर अहिंसा और मैत्री का सन्देश विश्वभर में दिया, जिसे आधुनिक युग में महात्मा गाँधी जी ने पुनः नवप्राण प्रदान किए। इसी प्रकार हमारा धर्म-विज्ञान, हमारा मूर्ति और मंदिर शिल्प, हमारा साहित्य, हमारा चिकित्सा और ज्योतिष शास्त्र विश्वभर में न केवल प्रचारित हुए हैं अपितु सम्मानित भी हुए हैं। यह हमारी संस्कृति द्वारा प्रेषित संयम और आत्म शुद्धि का ही परिणाम है कि हम लोग आज के इस घोर भौतिकवादी युग में अभी भी मानवीय मूल्यों से संपन्न हैं। परंतु इतना सब

होने के साथ-साथ निस्संदेह हमारी संस्कृति ने संसार से उन श्रेष्ठ विचारों और परंपराओं को भी निसंकोच ग्रहण किया है जिन्होंने मनुष्यता को बचाने और आगे बढ़ाने में अपना थोड़ा-सा भी सहयोग दिया है।

इस प्रकार प्रस्तुत निबंध भले ही अपने सीमित आकार में भारतीय संस्कृति की देन के नाम पर कतिपय सर्वश्रेष्ठ मूल्यों को हमारे समक्ष स्पष्ट करता है, परंतु इसके साथ-साथ लेखक ने संस्कृति और सभ्यता के स्वरूप की व्याख्या करके किसी भी संस्कृति के भीतर अपेक्षित मूल्यों की ओर संकेत देकर परोक्षतः भारतीय संस्कृति के स्वरूप की ही व्याख्या की है – यह इस निबंध की अतिरिक्त विशेषता है।

भारतीय संस्कृति की देन साँस्कृतिक दृष्टि से उच्चकोटि का निबंध है। भारतीय संस्कृति ने अपने निर्माण की प्रक्रिया में अनेक जातियों के साँस्कृतिक मूल्यों को आत्मसात करके जिन समन्वित किंतु अवरोधी, श्रेष्ठ साधनाओं को जन्म दिया, वह अपने में इतनी अद्भुत अनुपम और ज्ञान के सूक्ष्म तत्वों से युक्त थी कि उन्होंने अपना प्रचार-प्रसार द्वारा समस्त विश्व को अभिभूत कर दिया। यहाँ का दर्शन, धर्म अध्यात्म नैतिक और सौन्दर्यपरक मूल्य समस्त विश्व को प्रेरणा देने की क्षमता रखते थे। प्रस्तुत निबंध में लेखक ने यहाँ की संस्कृति की अनंत उपलब्धियों को उनकी पूर्ण रूप में स्थापित करके उसके मात्र आंशिक रूप का ही परिचय दिया है। भारतीय संस्कृति की देन नामक निबंध से हमारी संस्कृति की उत्कृष्टता की पहचान हमें मिलते हैं। सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है। वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी। नाना ऐतिहासिक परंपराओं के भीतर से गुज़रकर और भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान मानवी के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा

भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम 'संस्कृति'; शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति है।

मनुष्य की सामान्य संस्कृति भी बहुत कुछ अनूठी वस्तु है। मनुष्य ने उसे अभी तक संपूर्ण पाया नहीं है, पर उसे पाने के लिए व्यग्र भाव से उद्योग कर रहा है। यह मार-काट, नोंच खसोट और झगडा टंटा भी उसी प्रयत्न के अंग है।

द्विवेदी का विश्वास है कि प्रत्येक देश और जाति ने अपनी ऐतिहासिक परंपराओं और भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार उस महान लक्ष्य के किसी-न-किसी पहलू का अवश्य साक्षात्कार किया है। ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक साधनों के परिणाम स्वरूप भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न जातियाँ एक दूसरे के नज़दीक आती जाएंगी त्यों-त्यों इन अंश सत्यों की सार्थकता प्रकट होती जाएंगी और हम सामान्य व्यापक सत्य को पाते जायेंगे।

अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थिति में और विशेष ऐतिहासिक परंपरा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिए इस देश के लोगों ने भी कुछ प्रयत्न किए हैं। जितने अंश में वह प्रयत्न संसार के अन्य के प्रयत्नों का अवरोधी है, उतने अंश में वह उनका पूरक भी है। भिन्न-हिन् देशों और भिन्न-भिन्न जातियों के अनुभूत और साक्षात्कृत अन्य अविरोधी धर्मों की भांति वह मनुष्य की जय यात्रा में सहायक है। वह मनुष्य के सर्वोत्तम को जितने अंश में प्रकाशित और अग्रसर कर सका है, उतने ही अंश में वह सार्थक और महान है। वही भारतीय संस्कृति है, उसको प्रकट करना, उसकी व्याख्या करना या उसके प्रति जिज्ञासा भाव उचित है। यह प्रयास अपनी बड़ाई का प्रमाणपत्र संग्रह करने के लिए नहीं है, बल्कि मनुष्य की जय यात्रा में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से प्रेरित है। मनुष्य को दो प्रकार के

कर्तव्य निबाहने पड़ते हैं एक स्थूल की क्षुधा को निवृत्त करना और दूसरा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्व की ओर बढ़ानेवाली अपनी ऊर्ध्व गामिनी वृत्ति को संतुष्ट करना। आहार निद्रा आदि के साधन भी मनुष्य को जुटाने पड़ते हैं। यद्यपि मनुष्य बुद्धि ने इनमें भी कमाल का उत्कर्ष दिखाया है, पर प्रयोजन प्रयोजन ही है। प्रयोजन के जो अतीत है, जहाँ मनुष्य की अनंदिनी वृत्ति ही चरितार्थ होती है वहाँ मनुष्य की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को संतोष होता है। सामाजिक संघटन को दोषहीन और गतिशील बनाने के लिए मनुष्य ने दण्ड पुस्कार की व्यवस्था भी की। इन बातों को एक शब्द में सभ्यता कहते हैं। आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक संघटन, नैतिक परंपरा और सौन्दर्य बोध को तीव्रतर करने की योजना ये सभ्यता के चार स्तंभ हैं। इन सबके सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है। सभ्यता मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सहजलभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनहीन अन्तर आनंद की अभिव्यक्ति।

भारतवर्ष का इतिहास अन्य देशों से कुछ विचित्र रहा है। सभ्यता के उषःकाल से लेकर आधुनिक काल के आरंभ तक हमारे इस देश में नाना मानव समूहों की धारा बराबर आती रही है। इसमें सभ्य, अर्ध सभ्य, और बर्बर श्रेणी के मनुष्य रहे हैं। भारतीय मनीषी शुरु से ही मनुष्य के बहुविध विश्वासों और मतों को जानने का अवसर पा सके हैं। इसलिए यहाँ धर्म विज्ञान और तत्व जिज्ञासा कभी परस्पर विरोधी मत नहीं माने गए। भारतीय ऋषि ने दोनों का उचित सामंजस्य किया है। शायद इस विषय में भारतवर्ष सारे संसार को कुछ दे सकता है।

जब तक मनुष्य का बाहर और भीतर शुद्ध निर्मल और पवित्र नहीं होते, तब तक वह गलत वस्तु को सत्य समझ सकता है। चंचल मन से कोई मामूली समस्या भी ठीक-ठाक समाहित नहीं होती। यह जो बाह्य और अंतःकारणों की शुद्धि है, यही भारतीय दर्शनों की विशेषता है। चंचल चित्त केवल विकृत चिंता में ही लगा रहता है। भारतीय मनीषियों ने इस चंचल चित्त को वश में करने के उपाय बताये

हैं। इसी उपाय का नाम योग है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि यद्यपि मन बड़ा चंचल है और उसे वश में करना कठिन है तथापि अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। अभ्यास और वैराग्य के लिए साहित्य में शताधिक ग्रंथ वर्तमान हैं, संभवतः सारे संसार में बुद्धिजीवी इस विषय में यहाँ से कुछ सीख सकते हैं। केवल बौद्धिक विश्लेषण द्वारा सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। सर्वत्र अभ्यास और वैराग्य आवश्यक है।

हठयोग, प्राण को वश में करने के पक्ष में है। राजयोग मन को वश में करने की विधि बताता है। ये सब अभ्यास द्वारा सिद्ध होते हैं। ऊपर से देखनेवाले आलोचक भारतीय साधन मार्गों में इतना अधिक भेद देखते हैं कि उन्हें समझ में नहीं आता कि विभिन्न पंथ किस प्रकार अपने को एक ही मूल उद्गम से उद्भूत बताते हैं।

भारतीय मनीषियों ने केवल अभ्यास को ही एकमात्र साधन नहीं माना। अभ्यास के साथ वैराग्य होना चाहिए। राग द्वेष वश जो इंद्रिय चांचल्य होता है, उसको रोकना, राग और विराग के विषयों को अलग अलग समझ सकना, मन द्वारा विषयों की चिंता और अंत में मानसिक उत्सुकता को दबा देना- ये सब वैराग्य के भेद हैं। परंतु असली वैराग्य तो तभी होता है जब अंतरात्मा संत इन्द्रियों से और मनबुद्धि आदि सब तत्वों से अपने को पृथक समझ लेता है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से चित्त स्थिर होता है और बुद्धि निर्मल होती है – केवल उसी समय परम सत्य का साक्षात्कार होता है।

भारतीय विश्वासों के अनुसार मनुष्य तीन ऋणों को लेकर पैदा होता है। देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण। पैदा होते ही मनुष्य अपने संपूर्ण शरीर और इन्द्रियों को पा जाता है। ये इन्द्रियाँ उसे न मिलती तो न तो संसार का कुछ आनंद ही उपभोग कर सकता, न कुछ नया दे ही सकता। निश्चय ही वह माता-पिता के

निकट इसके लिए ऋणी है। पितृ ऋण से मुक्ति पाने का उपाय संतान उत्पन्न करना और उन्हें शिक्षित बनाकर समाज के हाथों सौंप जाना है।

मनुष्य अतीत के ऋषियों का ऋण लिए हुए पैदा होता है। इसे चुकाने का उपाय ज्ञान की धारा की रक्षा और उसे अग्रसर कर देना है।

फिर अन्न को पैदा करनेवाली पृथ्वी, जल बरसानेवाले मेघ, प्रकाश देनेवाला सूर्य आदि प्राकृतिक शक्तियाँ जिन्हें भारतीय मनीषी 'देवता' कहता है – हमें अनायास मिल गई है। भारतीय मनीषी इनके ऋण से मुक्ति पाने का उपाय 'बांटकर भोग करना' बताया है।

देवदारु निबंध में पहले हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने देवदारु वृक्ष के नामकरण पर प्रकाश डाला है। उनका संदेह है कि किसने इस वृक्ष को देवदारु नाम दिया? संस्कृत साहित्य तथा महाभारत में इस वृक्ष का परामर्श हुआ है। इसके पूर्व ही किसी ने इस नाम दिया होगा। देवदारु वृक्ष सीधे ऊपर की ओर है। ऊँचाई को देखकर ऐसा सन्देह होता है कि यह आकाश के भी ऊपर जाएगा। यही लालसा से वृक्ष ऊपर की ओर जाती है। वृक्ष की शाखाएँ नीचे की ओर झुक गई है। यह देखने में लगता है कि इस जगत की रक्षा के लिए वह खड़ा करता है। प्रत्येक शाखाओं में उपशाखाएँ हैं। वह एक साथ मिली हुई है। हवा चलते समय पत्ते लहराने लगता है। पत्ते हिलते-डुलते समय उसकी छाया भी हिलती डुलती है। यह देखकर निबंधकार को लगता है कि सखी और नौकरानी के सामान छाया इन पत्तों का अनुगमन करती है। सभी पत्ते एक साथ झूलने लगता है तो वहाँ कोई निश्चित पद्धति नहीं होती। वृक्ष की जड़े धरती की ओर आकृष्ट है। वृक्ष का तन ऊपर आकाश की ओर चला जाता है। वह किसी की परवाह नहीं करता। वृक्ष, धरती के आकर्षण से अभिभूत है। इसी कारण वह जड़ को नीचे की ओर ले जाती है। वृक्ष में मस्ती भी है, इसलिए वृक्ष की

डालियाँ फ़ैल जाती हैं। गुरुत्वाकर्षण के अनुसार ऊपर फेंके हुए वस्तु नीचे की ओर आता है। लेकिन यह वृक्ष ऊपर की ओर जाता है। वह गुरुत्वाकर्षण की शक्ति को भी चुनौती देता है। स्पर्धा की भावना उसमें है। निबंधकार का मन मानव पर आ जाता है। प्राण, शरीर को छोड़कर मुक्त होना चाहता है। शरीर के पिंजड़े से मुक्त होने से, प्राण को एक प्रकार का उल्लास होता है। उसी प्रकार का उल्लास इस वृक्ष में भी है। देवदारु के महत्व पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी कहते हैं कि महादेव ने देवदारु को ही पसन्द किया था। शिवजी, सति की मृत्यु के बाद तपस्या करने के लिए देवदारु के नीचे बैठा था। कालिदास के 'कुमारसंभव' में इसका परामर्श है। इस वृक्ष के वैशिष्ट्य के कारण ही इसको महादेव ने चुन लिया है। कालिदास ने बताया है कि प्रयोजन से परे होकर ही उन्होंने तपस्या की थी। द्विवेदीजी कहते हैं – महादेव की तपस्या का परिणाम पार्वती-परिणय है। उनकी तपस्या को निष्काम नहीं बताया जा सकता। इसी कारण से ही महादेव ने तपस्या के लिए इस वृक्ष को चुन लिया है। सभी को पराजित करके वृक्ष किस तरह के आनंद का अनुभव करता है उसी प्रकार का आनंद, साधक को तपस्या के द्वारा मिल जाता है। उस आनंद को व्यक्त नहीं किया जा सकता। साधक, बाह्य शक्तियों को पराजित करके तपस्या करता है। इसका फल परमानंद है। भारतीय संस्कृति, तपस्या से प्राप्त परमानंद को मुक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।

साधक, परमचैतन्य को प्राप्त करने के लिए तपस्या करता है। उस चैतन्य के संबंध में, साधक के मन में एक धारणा होता है और वह बाह्य जगत को भूलकर एकाग्र चित्त से तपस्या करता है। उसी को हम योग साधना कहते हैं। ताण्डव में जड़शक्ति के आकर्षण को नष्ट कर, आनन्दोमुखी होकर नृत्य करता है। “आत्मा के

अनियंत्रित फैलाव को नियंत्रित करने का उल्लास है 'समाधि'।⁵ मानव मन में कई प्रकार की चिंताएं होती हैं। इनको रोकना तथा बाह्य आकर्षण को नियंत्रित रखना ही समाधि है। देवदारु वृक्ष, बाह्य प्रकृति के आकर्षण को नष्ट करता है। गुरुत्वाकर्षण को भी हराकर ऊपर उठता है। इसे हम ताण्डव की कोटि में रख सकते हैं। जो दीप जलाया जाता है, वह निष्काम होकर जलता है। हवा के चलने पर भी वह बुझता नहीं है। शिवजी की समाधि भी इस प्रकार का दीप है। शिवजी ने अपनी अंतः प्रकृति को नियंत्रित रखते हैं। ताण्डव और समाधि में एक ही छंद है क्योंकि कुछ वस्तुओं को नष्ट करने की क्षमता उसमें है। समाधि में लगे रहने के लिए, शिवजी ने अपने मन को अपने में नियंत्रित किया है। देवदारु में स्वयं बाह्य प्रकृति को रोकने की क्षमता है। यही कारण है कि शिवजी तपस्या के लिए देवदारु को ही चुन लिया है। द्विवेदीजी, अपने मन में उभरे विचारों को ठीक माननेवालों पर व्यंग्य करते हैं कि अपने मन की बात पर वे चिंतन करें और उसके बाद उसपर फैसला करें। बाह्य रूप से उचित महसूस करनेवाली बातों को मत स्वीकार करना है। महादेव, समाधि की स्थिति में आँखें मूँद ली थी, पर देवदारु की आँखें खोला ही रखे हुए थे। जब महादेव ने आँखें खोली, तब तुक (समानता) बिगड़ गया और कामदेव भस्म हो गया। तब छंद भी नहीं रह गया। शिवजी की तपस्या भंग हुई। देवदारु की आँखें खुला रहने पर क्या हुआ? उसमें कोई बदलाव नहीं है। उस समय जब कामदेव भस्म हो गया था, तब देवदारु की स्थिति क्या थी? वह तो वहीं का वहीं रहा था। उसमें महादेव के उस प्रवृत्ति का ज़रा ही प्रभाव नहीं पड़ा था। देवता की तुलना में वह निर्विकार रहा। देवता तो कामदेव की स्थिति के प्रति चिंतित थी। देवदारु अपने ही मस्ती में झूम रहा था। उसमें दया, माया, मोह कुछ भी नहीं है। देवदारु में लज्जा का भाव नहीं है। लज्जित व्यक्ति ही अपनी आँखों को झुकता है। देवता लोग

⁵ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 36

अपराध करने पर उसे स्वीकार करते हैं और माथा नहीं झुकता। वह आँखें खोलता ही रहता है। वह अपने को दूसरों से बड़ा दिखाना चाहता है। देवदारु के समान समाज के हर व्यक्ति चाहता है कि उसे समाज की ओर से स्वीकृति मिले।

हिमालय की पहाड़ियों में और भी अनेक वृक्ष हैं और इन वृक्षों का नाम भी वहाँ के निवासियों ने निबंधकार को बता दिया था। लेकिन देवदारु का महत्व, लंबाई तथा विशिष्टताओं को देखकर इस वृक्ष पर ही उसका ध्यान गया है। देवदारु की शाखाएं व्यापक हैं, इसी कारण ऊपर की शाखा से यदि गिर जायें, तो वह नीचे की शाखा में आ जाता है। यह केवल मन की प्रतीति है। सचमुच ऐसा घटित हो जाये तो किसी को भी अच्छा नहीं लगेगा। मृत्यु की कल्पना हम कर सकते हैं, लेकिन यथार्थ में मृत्यु आना पसंद नहीं करता। मन में हम जो कुछ विचार करता है वह घटित नहीं होता है। यह हमारे अनर्थ का कारण बन जाता है। वास्तविकता यह है कि सत्य हमेशा कटु होता है। कभी-कभी मन वास्तविकता को स्वीकार नहीं करता है। गरीब अपने लिए 'महल' नहीं बना सकता, लेकिन वह कल्पना करता है कि वह राजमहल में राजा जैसा जीवन बिताता है। लेकिन वास्तविकता यह होगा कि वह झोंपड़ी में रहता है। यह विकल्प तभी होता है जब उसके मन में इच्छा रहती है। यह विकल्प सत्य का रूप धारण करें या न करें, यह दूसरी बात है। कभी-कभी गरीब की सपना सच निकलता है, यदि उसको कहीं से कुछ धन मिला हो। उसी प्रकार मन की कल्पना सत्य निकलने की संभावना है। मन के विकल्प यथार्थ रूप धारण कर लें तो अच्छी बात है। दार्शनिकता के धरातल पर खड़ा करते हुए द्विवेदी ने 'देवदारु' के माध्यम से हमारी संस्कृति की विशिष्टताओं की पहचान दिया है।

जप, तप, मंत्र आदि भारतीय संस्कृति के मुख्य तत्व हैं। गायत्री मंत्र जपते समय पंडितजी जूता उतारने को न भूलता है। मंदिर में प्रवेश करते समय तथा मंत्र जपते समय भारतीय हिन्दुओं को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। यही

भारतीय संस्कृति है। भूत, प्रेत आदि पर जो विश्वास है वह भी हमारी संस्कृति में पाई जाती है। 'देवदारु' को पूरे भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में ही निबंधकार ने चित्रित किया है। यह मानव धर्म को बनाए रखने में सक्षम है।

प्राचीन काल से ही गुरु – शिष्य परम्परा का महत्व भारतीय संस्कृति में देखा जा सकता है। इसका उल्लेख द्विवेदी ने अपना निबन्ध 'गुरु – शिष्य परम्परा' में किया है। प्रस्तुत निबन्ध में निबन्धकार कहते हैं कि हमें सब प्रकार के प्रयत्न करना चाहिए कि गुरु और शिष्य के संबन्धों की पवित्रता खण्डित न होने पाये और शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा गुरु आये, जो ज्ञान के एकनिष्ठ साधक तो हो ही, चरित्र के भी धनी हो, और मानवीय सहानुभूति से जिनका हृदय परिपूर्ण हो। ज्ञान की साधना को व्यवसाय-विशेष के साथ बाँधना उचित नहीं है। आचार संपन्न विवेकी गुरु – शिष्य जिज्ञासु, श्रद्धालु, विनीत शिष्य ही इस पवित्र गुरु – शिष्य संबन्ध की रक्षा कर सकते हैं। श्रीकृष्ण ने शिष्य के तीन गुण बताये हैं - विनम्र भाव, जिज्ञासा, सेवा वृत्ति। उत्तम शिष्य और गुरु का गहरा संबन्ध हमारी संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। 'शिरिष के फूल' नामक द्विवेदी के निबंध में भारतीय संस्कृति का स्पष्ट छाप दिखाई देता है।

विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी गरिमा को बनाये रखने में भारतीय संस्कृति हमेशा ध्यान देते हैं। द्विवेदी कहते हैं कि "धरित्रि निर्धूम अग्निकुण्ड बनते समय भी शिरीष नीचे से ऊपर तक फूलों से लद जाता है। गर्मी में फूलने का हिम्मत उसमें है।"⁶ यही विशेषता हमारी संस्कृति में भी पाई जाती है। एकमात्र शिरीष ही कालजयी अवधूत की भांति जीवन की अजेयता का मंत्र प्रचार करता रहता है।

⁶ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 25

शिरीष, छायादार वृक्ष है। इसलिए ही जनक, वृक्षों को वृक्ष-वाटिका की चहारदीवारी के पास लगाया था, उसमें एक शिरीष भी थी। जिस प्रकार यह थके हुए मानव को छाया प्रदान करती है, उसी तरह भारतीय संस्कृति भी निराश मानव को आशा प्रदान करने लायक है। भारतीय संस्कृति की जड़े मज़बूत हैं। कितनी नई संस्कृतियाँ यहाँ आती-जाती रहती हैं, फिर भी हमारी संस्कृति अब भी मज़बूत होकर खड़ा है, जैसे शिरीष का फल हो। इसका फल इतना मज़बूत होते हैं कि नये फूलों के निकल आने पर भी स्थान नहीं छोड़ते। जब तक नये पत्ते-फल मिलकर उसे धकियाकर बाहर नहीं कर देते तब तक वे वहाँ अटल रहते हैं। शिरीष की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी जी कहते हैं कि शिरीष एक अद्भुत अवधूत है। दुःख हो या सुख, वह हार नहीं मानता। जब धरती और आसमान जलते रहते हैं, तब भी यह न जाने कहाँ से अपना रस खींचते रहते हैं। मौज में आठों यामों मस्त रहते हैं। यही आवेश तथा मस्ती हमारी संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। भारतीय मनीषियों के अनुसार कवि को हमेशा तपस्वी होना चाहिए। लौकिक सुख लालसा में डूबे हुए को कभी भी रचनाएँ नहीं कर सकता। इसका परामर्श भी द्विवेदी ने प्रस्तुत निबंध में की है। कर्नाटक राज्य की प्रिया विपंजिका देवी ने गर्वपूर्वक कहा था कि एक कवि ब्रह्मा थे, दूसरे वात्मिकी और तीसरे व्यास। एक ने वेदों को दिया, दूसरे ने रामायण को और तीसरे ने महाभारत को।” 1

भारतीय संस्कृति में सौन्दर्य का प्रमुख स्थान है। इनके अनुसार सत्य ही शिव है और शिव ही सुन्दर है। कालिदास अपनी रचना ‘अभिज्ञानशाकुंतलम’ में शकुन्तला और दुष्यन्त के सौन्दर्य का वर्णन मनमोहक ढंग से किया है जिसका परामर्श प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी ने की है।

महात्मा गाँधी, जो हमारे राष्ट्रपिता हैं, उसे हमारी संस्कृति में प्रमुख स्थान है। भारतीय संस्कृति की भलाईयों को बनाये रखने में इन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

जिस प्रकार शिरीष वायुमंडल से रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर है उसी प्रकार गाँधीजी भी वायुमण्डल से रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर हो सकता था।

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की 'कुटज' नामक छोटी सी निबंध में संस्कृति का समावेश देखा जा सकता है। 'कुटज' नाम ही भारतीय संस्कृति को व्यक्त करने लायक है। यह गिरिकूट से उत्पन्न होनेवाला वृक्ष है। पर्वतों तथा नदियों का, हमारी संस्कृति में विशेष स्थान है। प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी जी हिमालय का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि "पूर्व और ऊपर समुद्र-महादधि और रत्नाकर दोनों को दोनों भुजाओं से थाहता हुआ हिमालय 'पृथ्वी का मानदण्ड' कहा जाय तो गलत क्या है? इसी के पाद-देश में यह जो श्रृंखला दूर तक लेटी हुई है, लोग इसे शिवलिंग श्रृंखला कहते हैं। अलकनंदा का स्रोत यहाँ से काफी दूरी पर है।"⁷

योग-साधना तथा समाधि का, हमारी संस्कृति में प्रमुख स्थान है। यह भारतीय ऋषि-मुनियों की देन है। संपूर्ण हिमालय को देखकर द्विवेदी कहते हैं कि किसी के मन में समाधिस्त शिव की मूर्ति के समान हिमालय खड़ा है। वह अपने व्यक्तित्व को बनाये रखते हुए, अपना सिर ऊँचा करके खड़ा है। वह स्वाभिमानी है।

भारतीय संस्कृति रूप और नाम को प्रधानता देनेवाली संस्कृति है। प्रस्तुत निबंध में निबंधकार बताते हैं कि रूप व्यक्ति सत्य है आर नाम समाज सत्य। नाम उस पद को कहते हैं जिस पर समाज की मुहर लगी होती है। द्विवेदी का मन, नाम के लिए व्याकुल है, समाज द्वारा स्वीकृत, इतिहास द्वारा प्रमाणित और समष्टि मानव की चित्त-गंगा में स्नात!

⁷ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 29

भारतीय संस्कृति में संस्कृत भाषा का प्रमुख स्थान है। वेद-पुराण, उपनिषद आदि संस्कृत भाषा में रचे गये ग्रन्थ हैं। 'कुटज' का वर्णन संस्कृत साहित्य में ही पाई जाती है। वे कहते हैं कि संस्कृत भाषा के अनेक शब्द भारतीय संस्कृति के अविच्छिन्न अंग बन गये हैं। अगस्त मुनि और नारद मुनि का परामर्श प्रस्तुत निबंध में हुआ है ये हिन्दू पुराण के सशक्त पात्र हैं जो हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग हैं।

'कुटज' शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी ने आर्य भाषा और आर्य संस्कृति के बारे में बताया है। आर्य संस्कृति ही हिन्दू संस्कृति का आधार माना जाता है। 'कुटज' की गरिमा को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि चारों ओर यमराज के दारुण निश्वासों के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है। भारतीय का विश्वास है कि जो पाप कर्म करता है उसे मृत्यु के समय यमराज पकड़कर नरक ले जाएगा और अपने पाप कर्मों के लिए वहाँ से सजा दी जायगी। इस विश्वास के साथ हमारी संस्कृति आगे बढ़ रही है।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है आत्मविश्वास और मनोबल की कामना। वे हमेशा अपने व्यक्तित्व को बनाए रखने में सक्षम हैं। 'कुटज' में निबंधकार कहते हैं कि "कितनी बड़ी जीवनशक्ति है! प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवनी शक्ति को प्रेरणा देती है। दूर पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ हैं, वहीं कहीं महादेव समाधि लगाकर बैठे होंगे, नीचे सपाट पथरीली ज़मीन का मैदान है, कहीं-कहीं पर्वत नंदिनी सरिताएँ आगे बढ़ने का रास्ता खोज रही होंगी। बीच में यह चट्टानों की ऊबड़-खाबड़ जटाभूमि है – सूखी, नीरस, कठोर! यही आसन मारकर बैठे हैं मेरे परिचित कुटज।"¹ इसका मतलब तो यह है कि विभिन्न परिस्थितियों का सामना करते हुए कुटज अपना जीवन बिता रहा है। फिर भी वह परोपकारी है, समाज कल्याण की कामना करनेवाला है जो भारतीय

संस्कृति का विशेष स्वभाव है। यह समाधिस्त महादेव को पुष्प स्तबक का उपहार चढ़ा देता है और नीचे की ओर अपनी पाताल भेदी जड़ों को दबाकर गिरिनन्दिनी सरिताओं को संकेत से बता देते हैं कि रस का स्रोत कहाँ है? कुटज का उपदेश है कि जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर, अपना योग्य संग्रह करो, वायु मण्डल को चूसकर, अवकाश की लहरों में झूमकर, उल्लास खींच लो।

भारतीय, मानव जीवन तपस्विनी के समान बिताना चाहनेवाला है। उनका विश्वास है कि जीना एक कला है, कला ही नहीं तपस्या है। कुटज में निबंधकार ने इस बात का परामर्श किया है।

आधुनिक समाज की स्वार्थता का चित्रण द्विवेदी ने प्रस्तुत निबंध में किया है। कितने बड़े ऋषि-मुनि होने पर भी, वे स्वार्थ से अपना काम लेते हैं। यज्ञवल्क्य बड़े यज्ञ वादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से देखने का प्रयास किया, लेकिन वह भी स्वार्थ के लिए। पिता के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, पति के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती सब अपने स्वार्थ के लिए प्रिय होता है। संसार में जहाँ कहीं प्रेम है, सब अपने स्वार्थ के लिए। दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, परार्थ नहीं है, परमार्थ नहीं है – है केवल प्रचण्ड स्वार्थ!

भारतीय संस्कृति समष्टि को प्रधानता देकर ही आगे चल रहा है। यज्ञवल्क्य ने 'आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियम भवति' कह दी थी, वह अंतिम नहीं थी। वे 'आत्मनः' का अर्थ कुछ और बड़ा करना चाहते थे। व्यक्ति की आत्मा केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह व्यापक है। 'अपने में सब और सब में आप' इस प्रकार की एक समष्टि बुद्धि जब तक नहीं आता, तब तक स्वार्थ खंड सत्य है।

‘कुटज’ भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म के उपदेश नहीं देता फिरता, दूसरो को अपमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दांत नहीं निपोरता, बगले नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है।

महाभारत के शांतिपर्व में भीष्मपितामहः का कथन है – “चाहे सुख या दुःख, प्रिय हो अप्रिय, जो मिल जाय उसे शान के साथ, हृदय से बिलकुल अपराजित होकर, सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो।” कुटज भी इस तत्व को पकड़कर ही हिमालय की चोटियों में अपना सिर ऊँचा करता हुआ खड़ा है। द्विवेदी बताते हैं कि कितना विशाल हृदय होगा, जो सुख से, दुःख से, प्रिय से, अप्रिय से विचलित न होगा।

सुख-दुःख की कल्पना भारतीय संस्कृति के अनुसार इस प्रकार है – सुख वह है जिसका मन वश में है, दुखी वह है जिसका मन परवश है। जिसका मन अपने वश में नहीं है, वही दूसरे के मन का छन्दावर्तन करता है। अपने को छिपाने के लिए मिथ्याडबर करता है, दूसरे को फँसाने के लिए जाल बिछाता है। कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है। वह वैरागी है। वह कह उठता है – “मैं स्वार्थ के लिए अपने मन को सदा दूसरे के मन में घुसाता नहीं फिरता, इसलिए मैं मन को जीत सका हूँ, उसे वश में कर सका हूँ।”¹ भारतीय मनीषियों का भी यही कहना है कि तपस्या तथा मुक्ति के लिए मन को नियंत्रित करना है। मन को अपने वश में करते हुए एकाग्र चित्त से तपस्या का मार्ग स्वीकार करने से ही मुक्ति संभव होती है। कुटज भी ऐसा है कि इस संसार के संपूर्ण सुख-भोगों को भोगकर भी वह उनसे मुक्त है। वह अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के द्वारा रचा गया प्रमुख निबंध है अशोक के फूल। प्रकृति के आँगन में कई तरह के वृक्ष हैं, लेकिन अशोक उनमें से बिलकुल भिन्न दिखाई देता है। अशोक पुष्प का महत्व शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। कामदेवता ने अपने पाँच पुष्प बाणों में इस पुष्प को स्थान दिया है। फिर इतिहास का वह युग भी आया, जब अशोक को जनता बिलकुल भूल गया। समाज के स्मृति-पट से यह अप्रत्यक्ष हो गया। द्विवेदी कहते हैं कि समय का चक्र कभी तो किसी को उत्कर्ष के चरम तक पहुँचा देता है, कभी उसे लोगों की स्मृति से गायब कर देता है। यहाँ निबंधकार पाठकों के सामने एक सवाल छोड़ता है कि क्या इसमें मात्र समय ही दोषी है? समाज की रुची-अरुचि का इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं है? द्विवेदी का रचनाकार प्रस्तुत निबंध में इसकी खोज अशोक वृक्ष की सांस्कृतिक यात्रा के बहाने से करता हुआ दिखाई देता है।

भारतीय संस्कृति यानि हिन्दू संस्कृति अनेक जातियों व् संस्कृतियों के मिश्रण से बना हुआ है। आर्य, यक्ष, गंधर्व, असुर, शक, हूण, नाग मुसलमान आदि कई तरह की जातियाँ शताब्दियों से यहाँ आती रही, लेकिन अजब की बात है कि इन कई तरह की संस्कृतियों में जन्मे भारतीय सनास्कृति में एकता का गुण विद्यमान है। समन्वय और उदारता की अद्भुत क्षमता यहाँ पाई जाती है। विभिन्न जातियों के भिन्न विचारों को इस प्रकार गुँथा गया है कि जिन्हें अलग से पहचानना बहुत कठिन है। आर्य जाति सबसे सुदृढ़ और पुरानी जाति है। बाद में आनेवाली जातियों को आर्यों से सामना करना पड़ा और संघर्ष भी करना पड़ा। कुछ ने आर्यों से मित्रता दिखाई। जो उनसे अनेक वर्षों तक संघर्ष करती रही और उनकी प्रभुता को स्वीकार न कर सकी, उन्हें आर्यों ने असुर, राक्षस अथवा दानव कहकर संबोधित किया तथा अपने साहित्य में उन्हें हेय भाव से चित्रित किया। यक्ष, गन्धर्व आदि जातियाँ, जो

आर्यों से मित्रता दिखाई उनका प्रमुख स्थान दिया गया। भारत वर्ष का इतिहास आर्यों की इन्हीं मित्र व शत्रु जातियों के संघर्ष व समन्वय में ही समाया है।

आर्यों के मित्र जातियों को यहाँ की संस्कृति में सम्मिलित कर लिया गया था। यही है कि यक्षों और गन्धर्वों के माध्यम से भारतीय संस्कृति में उनके देवताओं के रूप में कुबेर, सोम और कंदर्प ने प्रवेश किया। ये तीनों देवतायें समृद्धि के प्रतिक थे। कंदर्प देवता ने हमारी संस्कृति को बहुत अधिक प्रभावित किया। इस देवता का संबंध मनुष्य की आदिम भूख 'काम' पर था और मनुष्य जितना प्रगति की ओर बढ़ा, इसका दमन नकार सका। मनुष्य ने अपनी जीवनचर्या में बहुत महत्व दिया और इससे जुड़ी अनेक कथाओं तथा लोक विश्वासों का प्रचलन हुआ। उन्हीं लोक विश्वासों ने पुराण कथाओं का रूप धारण कर लिया। भिन्न-भिन्न प्रतीकों के माध्यम से ग्रंथों में इसका प्रतिपादन हुआ। कथा तो इस प्रकार है कि कंदर्प देवता को इस बात का 'अहं' हो गया कि मेरा, सभी के मन पर शासन है तथा जिस प्रकार सभी मनुष्य मेरे गुलाम हैं, उसी प्रकार देवताओं को भी मैं मोहित कर सकता हूँ। इन्द्रदेव पहले से ही अपने आकर्षण में बंधे हैं, एक दिन उसने महायोगी शिव को भी अपने वश में करना चाहा। अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण रखनेवाले शिव को, कंदर्प देवता पर क्रोध आया और अपना तीसरा नेत्र खोलकर उसे भस्म कर दिया। इस प्रक्रिया में उसका धनुष भी टूटकर बिखर गया और धरती तक पहुँचते-पहुँचते उस धनुष के विभिन्न हिस्से विभिन्न पुष्पों में परिवर्तित हो गए। इन पुष्पों ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। द्विवेदी का विश्वास है कि ये पुष्प भारतीय संस्कृति को गन्धर्वों की देन हैं। कामदेवता के पाँच पुष्प बाणों को भारतीय संस्कृति में ख्याति प्राप्त हुई। आर्यों के मित्र गन्धर्व देवता के पाँच पुष्पों ने धरती पर सभी जीवों में काम वासना को जगाने का कार्य किया। इनमें अशोक पुष्प को विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। धीरे-धीरे इस वृक्ष ने भारतीय संस्कृति के धार्मिक उत्सवों में प्रमुख स्थान प्राप्त

किया। चैत्रशुक्ला अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्रियों की सन्तान कामना की पूर्ति का विश्वास इस वृक्ष को और भी गरिमा मिलने का कारण बन गया और स्त्रियों की ओर से इस वृक्ष की पूजा होने लगी। पूजा का वह दिन विशेष रूप से 'मदनोत्सव' के नाम से मनाया जाने लगा। इस अवसर पर सुन्दर स्त्रियों के पाद-स्पर्श से, इसके पुष्पित होने की कल्पना ने इस वृक्ष के महत्व को और भी बढ़ाया। धीरे-धीरे अशोक के लाल और सफ़ेद फूलों ने काम भावना उत्पन्न करके तथा तांत्रिक क्रियाओं में सिद्धि प्रदान करने का विश्वास भी आर्जित कर लिया और इस प्रकार यह वृक्ष भारतीय संस्कृति का अंग बन गया। जो कार्य काम देवता स्वयं नहीं कर पाये, वह इस वृक्ष के माध्यम से संपन्न हुए।

भारतीय संस्कृति में अशोक के फूल का महत्वपूर्ण स्थान है। स्वाभाविक है कि साहित्य के क्षेत्र में भी यह फूल महत्वपूर्ण होने लगे। कवियों ने इन मनोहर पुष्पों को लेकर अनेक सुन्दर कल्पनाएँ किए थे। कालिदास के काव्यों में इस पुष्प का परामर्श हुआ है। "कालिदास ने दिखाया कि सुन्दरियों के नूपुरवाले कोमल चरणों के हलके आघात से यह फूल खिलता है। कहीं इसे सुन्दरियों के कानों का आभूषण बताया है। इतना ही नहीं, इस पुष्प का सौन्दर्य और सुकुमारता द्वारा कहीं शिव में श्रृंगार भावना का उदय दिखाया तो कहीं सीता के भ्रम में राम द्वारा इसके पुष्प को ही निहारते हुए दिखलाया।"⁸

लेकिन मुसलमानी प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ इस पुष्प की प्रधानता कम होता गया। कामदेवता के पाँच पुष्प बाणों में मात्र इसी पुष्प को इस दुरवस्था हुई। अशोक वृक्ष के इतिहास में उत्कर्ष और अपकर्ष की स्थिति देखा जा सकता है। सारे मानव जाति के अनुरूप चलना ही संस्कृति का धर्म है। यह व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं बनी है। इस लिए ही द्विवेदी ने उसे 'अविरोधी सत्यों का समुच्चय' माना है।

⁸ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ: 22

संस्कृति की यात्रा में वही स्वीकृत होता है, जो सामान्य मानव के जीवन का सहज अंग बनकर, उसके कल्याण के लक्ष्य में चलता है। अन्य को संस्कृति छोड़ देती है। यही उसकी प्रकृति है। अशोक पुष्प गन्धर्वों की देन है। उसकी प्रकृति विलासिता की थी। भारतीय संस्कृति में त्याग और विरक्ति की प्रधानता है। यह विलासिता को कभी स्वीकार नहीं करता है। मानव की यात्रा का अंत भोग में नहीं, मोक्ष में है। निबंध में एक स्थान पर द्विवेदी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि अशोक जितना भी सुन्दर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परंतु वह है उस विशाल सामन्त सभ्यता की परिष्कृत रूचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी, और लाखों, करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी।

पुराने का निरंतर संस्कार करते रहना, उसका परिष्कार करते रहना ही मनुष्य का आदर्श है, तभी वह विवेकशील और पंडित कहलवाने का अधिकारी बनेगा। निबंधकार, निबंध के प्रारंभ में पुष्पित अशोक को देखकर उदास होनेवाला लेखक, भारतीय संस्कृति में अशोक को लुप्त होने के वास्तविक कारणों को ढूँढ़ निकालता है और फिर स्वीकार करता है कि पुराने चित्त से इसे देखनेवाले उदास होता है। वे कहते हैं कि वस्तुएं धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होती। यहाँ धरती से मिलने का तात्पर्य जीवन का अंग बनने से है। जब तक कोई वस्तु हमारे जीवन का अंग नहीं बनती, अथवा अपनी श्रेष्ठता के अहं से ग्रस्त रहती है, मनुष्य अपनी विजय-यात्रा में से उसे उखाड़ फेंकता है। लोक की संस्कृति ही उसकी जीवन्तता है। यही इस निबंध का प्रमुख सन्देश है। अशोक पुष्प, द्विवेदी की इस धारण की स्थापना के लिए माध्यम बना है। पुराण संस्कृति से अशोक पुष्प का अटूट संबंध है। महादेव के मन में क्षोभ पैदा करनेवाला, श्रीराम के चित्त में सीता का भ्रम

उत्पन्न करने वाला फूल है यह। भारतीय साधना, भारतीय धर्म, साहित्य शिल्प आदि में इसका प्रमुख स्थान है।

शिव-विष्णु-ब्रह्मा के बारे में द्विवेदी ने प्रस्तुत निबंध में प्रकाश डाला है। ब्रह्मा सृष्टिकर्ता है, विष्णु परिपालक है, शिव संहार मूर्ति है। भारतीय के इस विश्वास को यहाँ दृढ़ कराता है। रहस्यात्मकता, भारतीय संस्कृति की आत्मा है। अशोक पुष्प को द्विवेदी रहस्यमय बताते हैं।

प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी कहते हैं कि मनुष्य सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन धारा आगे बढ़ी है। हमारे सामने समाज के आज का जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का फल है। मानव के संहार ताण्डव से यहाँ सबकुछ नष्ट होता जा रहा है। उसी प्रकार अशोक का भी नाश होता जा रहा है। इस लिए ही वह कह उठता है कि आज अशोक के फूल को देखकर मेरा मन उदास हो रहा है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर, किस सहृदय के मन में उदासी की रेखा खेल उठेगी?

दीपावली – सामाजिक मंगलेच्छा का प्रतिमा – पर्व नामक निबंध के द्वारा आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी यह कहना चाहते हैं कि दीपावली उत्सव का महत्व कितना है। हमारी संस्कृति में इसका स्थान कैसा है। वे कहते हैं कि कम से कम ढाई तीन हज़ार वर्षों मानव-चित्त के उमंग और उल्लास की कहानी इस पर्व के साथ जुड़ी है। राज्यों और राजवंशों के उत्थान-पतन होते रहे, बड़े-बड़े धर्म-संप्रदाय उठते-गिरते रहे, चंचला लक्ष्मी का प्रसाद न जाने कितने लोगों को प्राप्त हुआ और कितने उससे वंचित हो गए, पर दीपमाला का उत्सव नहीं रुका। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि यह लक्ष्मी-पूजा का दिन है। बंगाल में दूसरी परंपरा है। वहाँ इस तिथि को

कालीजी की पूजा होती है। लक्ष्मीपूजा वहाँ आश्विन मास की पूर्णिमा के दिन होती है। उसे कौजगर पूर्णिमा कहते हैं। पर पूजा लक्ष्मी की हो, या काली की, इस पर्व में मनुष्य चित्त का उल्लास ही मुख्य है।

समाज कल्याण की भावना भी प्रस्तुत उत्सव में निहित है। द्विवेदी कहते हैं कि “एक व्यक्ति नहीं, एक परिवार नहीं, एक जाति भी नहीं, बल्कि समूचा मानव-समाज समृद्धि चाहता है, अदारिद्र्य चाहता है, अमंगल का अंत चाहता है, उल्लास और उमंग चाहता है। दीपावली का उत्सव उसी मंगलेच्छा का मूर्तरूप है। दीपावली, यह सन्देश लेकर आ रही है कि व्यक्ति की इच्छा भी नश्वर है, प्रयत्न भी नश्वर है, परंतु सामाजिक मनुष्य की इच्छा अमर है और प्रयत्न भी अमर होगा।”⁹

प्रस्तुत निबंध के अंत में द्विवेदी अपनी कल्याणकारी मनोभाव को व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि राज्य बदल जायेंगे, राज मुकुट पुराने हो जायेंगे, मठ ढह जायेंगे, संप्रदाय नष्ट हो जायेंगे – बची रहेगी मनुष्य की सामाजिक मंगलेच्छा।

‘आलोकपर्व की ज्योतिर्मय देवी’ नामक निबंध में भारतीय संस्कृति का दार्शनिक भाव देखा जा सकता है। इसमें द्विवेदी लिखते हैं कि मार्कण्डेय पुराण के अनुसार समस्त सृष्टि की मूलभूत आद्याशक्ति महालक्ष्मी है। वह सत्व, रज और तम तीनों गुणों का मूल समवाय है। वही आद्याशक्ति है। वह समस्त विश्व में व्याप्त होकर विराजमान है। दीपावली को इसी महालक्ष्मी का पूजन होता है। तामसिक रूप में वह क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, महामारी के रूप में अभिव्यक्त होती है। राजसिक रूप में वह जगत का भरण-पोषण करनेवाली ‘श्री’ के रूप उन लोगों के घर आती है, जिन्होंने पूर्व जन्म में शुभ कर्म किए होते हैं। सत्व, रज और तमोगुण का संकल्प और

⁹ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 88

जन्म-जन्मान्तर की फल-प्राप्ति पर विश्वास, पुनर्जन्म पर विश्वास आदि भारतीय संस्कृति में विद्यमान है।

भारतीय के धार्मिक में अनेक देवताओं की उपासना होती है। इसे बहुदेववाद कहते हैं। जिस देवता की उपासना चलती रहती है, उसे ही सारे देवताओं से श्रेष्ठ और सबका हेतुभूत माना जाता है।

अद्वैतवाद भी हमारी संस्कृति में पाई जाती है। एक ही देवता है जो भिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। उपासना के समय उसके जिस विशिष्ट रूप का ध्यान किया जाता है, वही समस्त अन्य रूपों में मुख्य और आदिभूत माना जाता है। इसका रहस्य यह है कि साधक सदा मूल अद्वैत सत्ता के प्रति सजग रहता है।

सारा दृश्यमान जगत ज्ञान, इच्छा और क्रिया के रूप में त्रिपुटीकृत है। त्रिपुटीकृत जगत की मूल कारण भूत इस शक्ति को 'त्रिपुरा' भी कहा जाता है। यह सत्वगुण प्रधान सरस्वती के रूप में, इच्छा रूप में, रजोगुण लक्ष्मी के रूप में और क्रिया रूप में, तमोगुण प्रधान काली के रूप में उपास्य होती है। इनकी उपासना से लोक कल्याण का कार्य संभव होता है।

दार्शनिकता को अपने साथ लेते हुए ही हमारी संस्कृति आगे बढ़ता है। प्रस्तुत निबंध में यह दार्शनिक रूप हमें मिलते हैं।

'सौन्दर्य सृष्टि में प्रकृति की सहायता' निबंध में द्विवेदी ने सौन्दर्य की सृष्टि में प्रकृति का योगदान कहाँ तक है इसका वर्णन किया है। पुराने ग्रंथों से स्पष्ट पता चलता है कि वसंतागम के साथ ही साथ किस प्रकार भारतीय चित्त आह्लाद और उल्लास से नाच उठता था। मदन पूजा, कुसुम चयन, हिंदोल-लीला, उदकध्वेहिका आदि पूर्ण विनोदों से समग्र जन-चित्त आन्दोलित हो उठता था। राज अंतपुर से लेकर गरीब किसान की झोंपड़ी तक नृत्य-गीत की मादकता बह जाती थी और जन चित्त के उस

उल्लास को प्रकृति अपने असीम सौन्दर्य से सौगुना बढ़ा देती थी और मधुपान से मत्त होकर भौरों गली-गली घूम रहे थे।

प्राचीन भारतवर्ष, वर्षकाल का उपभोग नाना-भावों से करता था। सबसे सुन्दर और मोहक विनोद झूला-झूलना था, जो आज भी किसी-न-किसी रूप में बचा हुआ है।

हमारी संस्कृति के बारे में काव्य ग्रंथों में यह वर्णन मिलता है कि राजाओं और राईसों के घर के भीतरी तालाब में और क्रीडा सरोवरों में सदा पालतू हंस रहा करते थे। 'कादम्बरी' में कहा गया है कि जब राजा शूद्रक-सभा भवन से उठे तो उनको लेकर चलनेवाली सुन्दरियों के नूपुर रव से आकृष्ट होकर, भवनदीर्घिका के कलहंस, सभी गृह की सोपान श्रेणियों को ध्वलित करके कोलाहल करने लगे थे। इस प्रकार प्रकृति के सहारे से, भारतीय संस्कृति की छोटी-सी झलक प्रस्तुत निबंध में पाई जाती है।

द्विवेदी के 'वर्षा-घनपति से घनश्याम तक' वेदों का, भारतीय संस्कृति में प्रमुख स्थान है। ऋग्वेद के पाँचवे मंडल के 83th सूक्त में उस वैदिक महाशक्तिशाली, महादाता और भीम गर्जनकारी पर्जन्य देवता की स्तुति की गई है, जो वृषभ के समान निर्भीक है और पृथ्वीतल की औषधियों में बीजारोपण करके नवीन जीवन की सूचना ला देते हैं।

भारतवर्ष की बहुधा-विचित्र संस्कृति के इतिहास में एक दिन ऐसा भी आया जब इंद्र देवता अपने शक्तिशाली मेघों के घोड़ों और बिजली के कोड़ों का प्रयोग करके भी जीत नहीं सके। जिस दिन उसका आतंक सफल नहीं हुआ, उसी दिन वे जनता की श्रद्धा भी खोने लगे। इंद्र देवता के इस ह्रास के बाद उपेंद्र देवता ने

भारतवर्ष के धर्म, साहित्य, शिल्प, संगीत और कला के क्षेत्र को छा लिया। घनों के राजा रंगमंच से चुपचाप हट गए और घनश्याम वहाँ मज़बूती से डट गए।

गन्धर्व और अप्सरस, जो परवर्ती हिन्दू देवता मण्डली में इंद्र के अनुचर बन गए हैं, किसी भिन्न संस्कृति के मूल देवता हैं। उत्तर वैदिक साहित्य में गन्धर्व और अप्सराएँ अपरिचित नहीं हैं। इन्हीं गन्धर्वों के एक नायक कन्दर्प या काम देवता है, जो परवर्ती हिन्दू साहित्य में मुनियों का व्रत तोड़ने के लिए अप्सराओं की अनीकिनी के साथ प्रायः इंद्र द्वारा नियुक्त होते रहते थे।

द्विवेदी कहते हैं कि दोला-केलि या दोला-विलास अति प्राचीन काल से भारतवर्ष में वर्षा की अत्यंत आकर्षक और उल्लासकर क्रीडा है। दीर्घकाल से उसने भारतवर्ष के चित्त को अभिभूत कर रखा है।

भक्ति की मोहक कल्पना भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। प्रस्तुत निबंध में निबंधकार कहते हैं कि “परमात्मा, मधुर प्रेम के लिए उतना ही व्याकुल है, जितना साधारण जीव उस अनंत माधुर्य भण्डार को पाने के लिए व्यग्र है। दोनों, दोनों के लिए व्याकुल।”¹⁰

‘जीवेम शरद – शतम’ सांस्कृतिक दृष्टि से यह निबंध बहुत विशिष्ट है। इसमें भगवत भक्ति को ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य माना गया है। नित्य ही धार्मिक हिन्दू अपनी संध्या पूजा के समय भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह अदीन होकर सौ वर्ष तक जीता रहे। उपनिषद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखे। कर्म करने की प्रेरणा भगवत गीता से ही हमें मिली है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि कर्म करो, फल की इच्छा मत करो। भारतीय संस्कृति कर्मनिरत होने का आह्वान हमेशा देता रहता है।

¹⁰ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 76

लक्ष्य भ्रष्ट जीवन, समाज के लिए हानिकारक है। इसलिए कर्म करते हुए ही जीवन को आगे बढ़ाना है। ऐसा कर्म, जो दूसरों के लिए कष्टदायक हो, समाज के यथार्थ मंगल में बाधक और मनुष्यता के प्रतिकूल हो, कभी इसका प्रोत्साहन नहीं किया जा सकता। यहाँ लोक मंगल की भावना व्यक्त है जो हमारी संस्कृति में पाई जाती है। मनुष्य में दीनता का भाव नहीं आना चाहिए। दीनता, उस मानसिक दुर्बलता को कहते हैं, जो मनुष्य को दूसरे की दया पर जीने का प्रलोभन देती है। भारतीय दूसरो की सहानुभूति कामनेवाला नहीं है। भारतवर्ष के श्रेष्ठ वीर अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएँ प्रसिद्ध है – दैन्य न दिखाना और भागना नहीं। वीरत्वपूर्ण मन से, धर्मानुकूल कर्म करते हुए ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए।

द्विवेदी जी कहते हैं कि वीरत्वपूर्ण चित्त से कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने के लिए त्याग और तप आवश्यक है। भगवत में प्रह्लाद ने भगवान् से कहा था कि हे भगवान्, मौन व्रत, शास्त्रज्ञान, अध्ययन, धर्माचरण, पाप, तप, समाधि और मुक्ति-तत्व ये सारी बड़ी बातें उन लोगों के लिए केवल बहस की बात है जिन्होंने अपने इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया। किसी भी महान संकल्प के लिए दृढ़ संयम और निष्ठा सबसे पहली शर्त है। महाभारत में कहा गया है कि कामवश, भयवश, लोभवश, यहाँ तक कि प्राण के लिए भी धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। अपने इन्द्रियों को वश में करने के लिए अभ्यास की ज़रूरत है।

हमारे देश में ऐसे दृढ़ निश्चयी और त्यागी वीर हुए हैं कि जिनके नाम लेने से हृदय और मन पवित्र हो जाता है। वे काम क्रोधादि से विचलित नहीं हुए हैं, वह सत्य है। जब उनका सन्देश समूह का सेवनीय बना है, तभी जड़-भार संग्रह करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है, माया जोड़ने का नशा उन्हें अभीभूत कर गया है।

जब हमारी संपूर्ण जनता साहसपूर्वक, धर्मानुकूल कर्म करती हुई सौ वर्ष का जीवन पाने की इच्छा करेगी और उसके चरित्र बल को दुर्बल बनानेवाली सामाजिक शक्तियाँ क्षीण हो जायेंगी, तब हमारा नैतिक धरातल ऊँचा होगा तभी समग्र देश का मंगल होगा और हमारे देशवासी केवल कर्ममय जीवन ही नहीं यापन करेंगे, वे सारे जगत को इस प्रकार के जीवन की ओर उद्बुद्ध करेंगे। यहाँ भी समाज कल्याण की भावना व्यक्त है।

‘ठाकुरजी की बटोर’ निबंध में द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि एवं सांस्कृतिक ज्ञान की अपरिमेयता एवं अगाधता का परिचय प्राप्त होता है। इसमें गाव की एक अति सामान्य सभा के संदर्भ में चिन्तनशील मन समस्त भारतीय वाङ्मय एवं सांस्कृतिक उत्थान-पतन की समस्त सरणियों का आलोडन-विलोडन कर डालता है। वैदिक काल के कर्मकाण्ड, पटु ऋत्विजों, उपनिषद् कालीन ऋषियों, बौद्ध भिक्षुओं का स्मरण करते हुए मध्यकाल में भारतीय संस्कृति की अवदशा पर हार्दिक खेदजनक स्थिति का विवरण दिया गया है। इसी कुचली हुई संस्कृति को, दक्षिण के वैष्णव भक्तों का सहारा मिला। वैष्णव भक्त हरिदास, मीरा, बंदा आदि की एकनिष्ठ वैष्णव भक्ति से भारतीय संस्कृति को पुनरुत्थान का अवसर मिला।

‘ठाकुरजी की बटोर’ में बताया गया है कि एक दिन ऐसा भी था जब कि पश्चिमी प्रान्तों में गंधार, पारस्य, शकस्थान में महावीर्य देवता के नाम और महिमा का कीर्तन होता था, भावावेश में लोग दरविगलित नेत्रों से महाविष्णु का स्मरण करते थे। पश्चिम में एक स्वतः सम्बुद्ध धर्म-भावना का अवतार हुआ, जिसके हाथ में दृढ़ मुष्टि कठोर कृपाण थी, और दूसरे में समानता के आश्वासन का अमृत वरदान। उसका प्राणदेवता अंतर्मुख था। पर वह अपनी परिधि पर अक्लांत भाव से चक्कर मार रहा था। उसने किसी से समझौता नहीं किया। किसी को मित्र नहीं माना, जो सामने आया उसी को ललकारा, जिधर लपका, उधर ही काल-चक्र घूम पड़ा। वह

इस्लाम था। इसी इस्लाम ने पश्चिम में इस महावीर्य देवता को उखाड़ फेंका। विजय गर्व से स्फीत वक्ष इस्लाम निर्भीक भाव से आगे बढ़ता गया, जिसने उसे आत्म समर्पण किया, वही उसके रंग में रंग गया, अरब से लेकर गांधार तक एक ही विजय ध्वजा बार-बार प्रकम्पित होकर धरित्री का हृदय कम्पित करने लगी।

‘प्राचीन भारत में मदनोत्सव’ नामक निबंध में कई तरह के उत्सवों का वर्णन देखा जा सकता है। मदनोत्सव होली के रूप में आज भी मनाया जाता है। वात्स्यायन के काम सूत्र में इसका वर्णन है। पुराने ग्रंथों से पता चलता है कि फागुन से आरंभ करके चैत्र के महीने तक वसंतोत्सव कई प्रकार से मनाया जाता है। इसके दो रूप प्रसिद्ध हैं – एक सार्वजनिक धूमधाम का और दूसरा कामदेव के पूजन का। सम्राट हर्षदेव की ‘रत्नावली’ नाटिका में इन दोनों प्रकार के उत्सवों का सरस और जीवन्त वर्णन मिलता है। भवभूति के ‘मालती-माधव’ नामक प्रकरण में मदनोत्सव का चित्रण है। इससे पता चलता है कि मदनोद्यान – जो विशेष रूप से इस उत्सव के लिए बनाया जाता है- इसका मुख्य केन्द्र था। इसमें कामदेव का मंदिर हुआ करता था। द्विवेदी ने प्रस्तुत निबंध में इस उत्सव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

मदनोत्सव के अवसर पर कन्दर्प देवता के मंदिर आकर कन्याएँ इष्ट वर की प्रार्थना करती थीं। उनका विश्वास था कि कन्दर्प देवता की पूजा करने से इष्ट पुरुष की प्राप्ति होगी। इस प्रकार का विश्वास तथा अनुष्ठान आर्य भारत संस्कृति की अपनी विशेषता है।

मत्स्य पुराण में बताई गई है कि मदनदेवता की पूजा चैत्र महीने में होती थी। अशोक वृक्ष के नीचे मिट्टी का कलश स्थापित किया जाता था। सफेद चावल भरे जाते थे। कलश को सफेद वस्त्र से ढककर उस पर चन्दन का लेप किया जाता था। कलश के ऊपर जो केले के पत्ते थे, उस पर कामदेव और रतीदेवी की प्रतिमा उतारी

जाती थी और नृत्य, गीत आदि से देवताओं को तृप्त किया जाता था। इसके दूसरे दिन चैत्रशुक्ल त्रयोदशी को पूजा होती थी। लोग व्रत रखते थे। मदनोत्सव के प्रस्तुत प्रसंग में व्रत लेकर पूजा कर्म करने की बात बताई गई है। व्रत हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग है।

भगवत गीता, भारतीय संस्कृति को बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान देता है। भगवत गीता में श्री कृष्ण ने बताया है कि काम का एक रूप धर्म के अविरुद्ध जानेवाला है, दूसरा धर्म के विरुद्ध जानेवाला। पहला, साक्षात् विष्णु रूप है।

समाज कल्याण की भावना इसमें देखा जा सकता है। “द्विवेदी कहते हैं कि आदिम सहजात वृत्तियों को सुरुचिपूर्ण, संयत और कल्याणमुखी बनाकर ही मनुष्य, मनुष्य बना है, नहीं तो वह पशु ही रह गया होता।”¹¹

‘नाखून क्यों बढ़ते हैं’ नामक निबंध में आचार्यजी ने प्रतीकात्मता को अपनाते हुए सामाजिक कुरीतियों पर प्रकाश डाला है। कुछ हज़ार साल पहले मनुष्य ने नाखून को सुकुमार विनोदो के लिए उपयोग में लाना शुरू किया था। वात्स्यायन के ‘कामसूत्र’ से पता चलता है कि आज से दो हज़ार वर्ष पहले का भारतवासी नाखूनों को जमके सँवारता था। गोड देश के लोग उन दिनों बड़े-बड़े नखों को पसंद करते थे और दक्षिणात्य लोग छोटे नखों को। अपनी-अपनी रूचि है, देश की भी और काल की भी। लेकिन समस्त अधोगामिनी वृत्तियों को और नीचे खींचनेवाली वस्तुओं को भारतवर्ष ने मनुष्योचित बनाया है। हमारी परम्परा महिमामयी, उत्तराधिकार विपुल और संस्कार उज्ज्वल है। भारतीय चित्त, जो आज भी ‘अनधीनता’ के रूप में न सोचकर, ‘स्वाधीनता’ के रूप में सोचता है, वह हमारे दीर्घकालीन संस्कारों का

¹¹ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 58

फल है। वह 'स्व' के बंधन को आसानी से नहीं छोड़ सकता। अपने आप पर, अपने आप द्वारा लगाया हुआ बंधन हमारी संस्कृति की बड़ी भारी विशेषता है।

भारतवर्ष के ऋषियों का लक्ष्य समस्त वर्णों और समस्त जातियों का एक सामान्य आदर्श है। वह है अपने ही बन्धनों से अपने को बाँधना। मनुष्य, पशु से इस बात पर भिन्न है कि उसमें संयम है, दूसरे के सुख-दुःख के प्रति संवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। "गौतम ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य की मनुष्यता यही है कि वह सबके सुख-दुःख को सहानुभूति के साथ देखता है। यह आत्मनिर्मित बंधन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अहिंसा, सत्य और अक्रोधमूलक धर्म का मूल उत्स यही है।"¹²

प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी बताते हैं कि हम बाहर नहीं, भीतर की ओर देखें, हिंसा को मन से दूर करो, मिथ्या को हटाओ, क्रोध और द्वेष को दूर करो, लोक के लिए कष्ट सहो, आराम की बात मत सोचो, प्रेम की बात सोचो-प्रेम ही बड़ी चीज़ है क्योंकि वह हमारे भीतर है। हमारी संस्कृति का जड़ भी यही प्रेम है। प्रस्तुत निबंध यह बताते हैं कि मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सबके मंगल के लिए निःशेष भाव से दे देने में है।

प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी जी ने मानवीय संस्कृति के उद्गम से लेकर उसके अद्यतन के बीच की बहुविध स्थितियों एवं परिणतियों का तर्कसंगत इतिहास प्रस्तुत करते हुए, मनुष्य की बर्बर अवस्था से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक निष्पत्तियों तक मनुष्य की परिवर्तित मानसिकता को चित्रित किया है। उनका मत है कि नाखून, मनुष्य की पाश्विकता का प्रतिक है। वह बार-बार काटने पर भी नहीं मरता, किन्तु मनुष्यता उसकी प्रकृत अवस्था को संस्कार संपन्न करती है। मन, वाणी और शरीर के आचरण को परिष्कृत करना ही सदाचार एवं वास्तविक मनुष्य धर्म है।

¹² हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 109

महाभारत, गौतमबुद्ध और गाँधी जी के विचारों के साक्ष्य पर आचार्य द्विवेदी आधुनिक अतिवादिता को मानव कल्याण के प्रतिकूल बताते हैं और मानवीय प्रेम एवं मूल्यों की अनिवार्यता को प्रतिष्ठित करते हैं। परस्पर प्रेम और स्वनिर्धारित आत्मबंधन अपरिहार्य है। मानव जीवन की सफलता एवं सार्थकता इन्हीं गुणों पर अवलंबित रहती है।

‘नाखून क्यों बढ़ते हैं’ इसका मतलब है मनुष्य किस ओर जा रहा है? पशुता की ओर या मनुष्यता की ओर? मनुष्य के अन्दर अनेक ऐसे आदत हैं जो हमारे विवेक को क्षीण करता है। नाखून की तरह यदि इन बुरे भाव बढ़ता जा रहा है तो उसे काट देना चाहिए। जिस प्रकार नाखून काटने से हमारे हाथ का सौन्दर्य बढ़ जाता है उसी तरह हमारे मन के बुरे भावों को दूर करने से हम में मनुष्यता आ जायेगी।

‘नया वर्ष आ गया’ नामक निबंध द्विवेदी की सांस्कृतिक निबंधों में एक है। भारत का सांस्कृतिक इतिहास बतलाता है कि यहाँ पर वर्षारंभ की अनेक परंपराएं, प्रणालियाँ साथ-साथ चलती रही हैं। अनेक शूर-वीर राजाओं ने अपने नाम से अथवा अपनी जाति के नाम से इनकी स्थापना की। द्विवेदी ने उनमें से कुछ परंपराओं का सांस्कृतिक परिचय प्रस्तुत निबंध में दिया है जैसे विक्रमादित्य के नाम से चलनेवाला विक्रमी संवत, शक जाति के राजा शालिवाहन द्वारा चलाया गया शक संवत, गुप्त राजा द्वारा चलाया गया गुप्त संवत, मुसलमानों के पैगंबर मुहम्मद के मक्का से मदीना पलायन करने की तिथि से उनकी अनुयायियों द्वारा चलाया गया फसली सन आदि।

नव वर्ष का आगमन कोई असामान्य बात नहीं है। सृष्टि-चक्र की गतिशीलता का यह सहज परिवर्तन है। इसी प्रकार नव वर्ष के प्रारंभ की तिथि, वार, राजा, मंत्री आदि का निश्चय भी ज्योतिष शास्त्र की सामान्य बातें हैं। द्विवेदी के लिए नव वर्ष का आगमन अपनी उक्त विशेषताओं के कारण महत्व नहीं रखता। वस्तुतः

लेखक तो इसके पीछे जुड़े हुए उस सांस्कृतिक इतिहास को महत्व देता है जो हर वर्ष नव वर्ष के आगमन की सूचना के साथ हमें यह स्मरण करवा देता है कि इस परंपरा के पीछे कितनी जातियों और संस्कृतियों का सम्मिलित प्रयास जुड़ा हुआ है, जो हमें यह स्मरण करवाता है कि यह परंपरा भिन्न-भिन्न जातियों के, भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के मिश्रण का परिणाम है और यह भी याद दिलाता है कि इस सृष्टि में वस्तुतः मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ है, जिसके ऊर्ध्वमुखी विकास के लिए सारी सृष्टि सारी प्रकृति तथा यहाँ तक कि समस्त मनुष्य जाति की बुद्धि, विवेक तथा उसकी जिजीविषा निरंतर अपने छोटे स्वार्थों और अहं को त्याग कर प्रयासरत है। निस्संदेह अतीत में भिन्न-भिन्न जातियों के परस्पर घोर संघर्ष हुए हैं, परंतु यह भी तो उतना ही बड़ा सत्य है कि उन संघर्षों के बावजूद मनुष्य ने समय के अंतराल से परस्पर अपने विरोध बहलाकर एक दूसरे की श्रेष्ठ बातों को ग्रहण करने का प्रयास किया है – मनुष्य का यही प्रयास शुभ है और मनुष्य अपनी इसी विशेषता के कारण धरती का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। हमारे साप्ताहिक दिनों के नाम पूर्व और पश्चिम की भिन्न परंपराओं के भेद को बहलाकर अत्भुत रूप से परस्पर सामंजस्य रखते हैं। लेखक के शब्दों में - “सारे संसार में सोम या चंद्रमा के वार को लोग सोम या चंद्रमा का वार ही कहते हैं। ईसाई हो या यहूदी, हिन्दू हो या मुसलमान सभी एक-एक दिन को करीब एकार्थक नामों से ही पुकारते हैं। धर्म में इन दिनों के साथ व्रत, पूजा और शुभाशुभ फल जुड़े हुए हैं। परस्पर विरोधी समझी जानेवाली संस्कृतियाँ और परंपराएँ इस विषय में विचित्र भाव से एक हैं।”¹ भारतीय परंपरा की सौर वर्ष की प्रणाली तथा विदेशी परंपरा की चन्द्र वर्ष की प्रणालियों में भी संगम हो गया और धीरे-धीरे विक्रमी संवत अपने भीतर अनेक परंपराओं को खपाकर भारतवर्ष संवत बन गया। इसी लिए संवत के अनुसार चैत्र मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को जब नव वर्ष का आगमन होता है, तो वह अपने साथ असुरों, यवनों, शकों और आर्यों के अत्भुत

मिलन का भी हर वर्ष संदेश लाता है। वह मिलन की इस परंपरा द्वारा स्थापित करता है कि संस्कृति के प्रवाह में मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाये गतिशील रहती हैं तथा इसकी अबोधता अथवा अविवेक के प्रतीक उसके क्षुद्र स्वार्थ समय की गति में हो जाते हैं। यह परंपरा हर वर्ष यह प्रचरित करती है कि इस सृष्टि के समस्त कार्य-व्यापारों का केन्द्र बिंदु मनुष्य ही है, प्रकृति का सब कुछ मनुष्य के उत्थान के लिए ही समर्पित है। अतः इसी संदेश की गूँज से हमें हर वर्ष नए सिरे से उत्साहित होकर आगे बढ़ने का संकल्प लेना चाहिए।

मेरी जन्मभूमि:

किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक पहचान बनाने में एक छोटा-सा गाँव भी अपना महत्व रख सकता है। उस गाँव की अनेक घटनाएँ, वहाँ रहनेवाले लोग, उनकी जातियाँ, उनकी जीवन-शैली तथा उनका विकास क्रम-सभी किसी-न-किसी रूप में अपने देश की सांस्कृतिक पहचान का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'मेरी जन्मभूमि' निबंध में द्विवेदी ने भी अपने जन्म स्थान 'ओझवलिया' नामक छोटे से गाँव का सांस्कृतिक परिचय देकर यह सिद्ध किया है कि 'मेरे इस छोटे से गाँव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा साँस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है।"

द्विवेदी ने अपने गाँव का साँस्कृतिक परिचय देते हुए बताया है कि इस गाँव के एक हिस्से को 'आरत दुबे का छपरा' कहते हैं, तथा गाँव के ओझवलिया' नाम में 'अवली' और आरत दुबे का छपरा' की साँस्कृतिक पृष्ठभूमि देते हुए जानकारी दी है कि छपरा की परंपरा पूरब में छपरा शहर तक जाती है और अवली ग्राम की परंपरा पश्चिम में बलिया तक जाती है और यह संयोग से छपरा और अवली का योग है। इसकी एक अन्य भौगोलिक विशेषता के अंतर्गत इस गाँव के भूभाग गंगा और सरयू जैसी दो महानदियाँ की बाढ़ से प्रभावित होता रहता है। फलस्वरूप बाढ़ के कारण

आनेवाली विनाश लीला ने यहाँ के लोगों की जीवन शैली को बहुत गहरे तक प्रभावित किया है। उन प्रभावों के अंतर्गत पहली प्रतिक्रिया तो हम इस रूप में वहाँ लक्षित करते हैं कि हर साल गंगा की बाढ़ में सब कुछ बह जाने की आशंका से वहाँ घर छपरों से ही बनाये जाते हैं तथा कई-कई गाँव प्रायः एक जगह झुण्ड बंधकर बसने को बाध्य होते हैं। अवली तथा छप्पर शब्दों की साँस्कृतिक पृष्ठभूमि वहाँ की उक्त भौगोलिक स्थिति स्वयमेव स्पष्ट कर देती है। दूसरे, निरंतर बनने-मिटते रहने के इतिहास ने यहाँ के लोगों में कुछ विशेष प्रकार के संस्कार भी विकसित किए हैं, जैसे धैर्य, निर्भीकता, मस्ती आदि। यहाँ के लोगों के लिए अक्सर बनने-मिटने की परिस्थितियों ने 'कुछ परवाह नहीं' का भाव उनमें संस्कारों के रूप में स्थापित कर दिया है। इसलिए यहाँ के लोग विपत्ति के थपेड़ो से घबराते नहीं, और कठिनाईयों में से रास्ता निकाल लेना इनका स्वभाव बन गया है। भला ही यहाँ प्राचीन इतिहास के अवशेषों के नाम पर कुछ भी शेष नहीं रख पाया, परंतु यहाँ की निवासियों के उक्त साँस्कृतिक पहचान ही यहाँ की साँकृति की विशेषता को व्याख्यायित कर देती है। इस गाँव का धार्मिक परिवेश भी अपने भीतर साँस्कृतिक पृष्ठभूमि की विरासत लिए हुए है। गाँव में हनुमानजी के एक स्थान पर उनकी मूर्ति उपलब्ध है जबकि दूसरे स्थान पर मूर्ति के बदले ऊपर-ऊपर सजाये हुए तथा ऊपर की ओर निरंतर घटते हुए तीन चौकोर चबूतरों को ही महावीरजी कहते हैं। उसे अनायास बौद्ध स्तूपों की याद आती है। इतना ही नहीं, इन महावीर जी की जयकार करते समय लोग इनके नाम के साथ जो 'महावीर स्वामी की जय' का सम्बोधन लगाते हैं, उससे हिंदुओं के इस देवता की याद आती हैं। इस विशेष पूजा-पद्धति और आकृति पर स्पष्ट ही किसी बौद्ध, जैन या किसी मिश्र परंपरा के प्रभाव के लक्षण दिखलाई देते हैं। इसी प्रकार इस गाँव में काली देवी के अनेक स्थान हैं। लेखक के अनुसार यह परंपरा भी कोई अधिक पुरानी नहीं है। दूसरे शब्दों में, इस पर भी

किसी अन्य धार्मिक संप्रदाय का प्रभाव परिलक्षित होता है। गाँव में फैली प्लैग की बीमारी ने इस गाँव को एक नई देवी दे दी है, 'पिलेक मैया', इसका स्थान भी बन गया और कायदे से इसका पूजन भी होता है। परंतु लेखक का अनुमान है कि एक आध-शताब्दी के बाद लोग इसके नाम से अंग्रेज़ी शब्द 'प्लेग' के आधार पर इसे अंग्रेज़ी की देन भी स्वीकार कर सकते हैं। इस क्षेत्र में तिबत्ती परंपरा के प्रभाव से लेखक यहाँ की 'कुरुकुल्ला', 'तारा' और 'छिन्नमस्ता' को स्वीकार करता है। इस प्रकार लेखक के जन्म स्थान के रूप में प्रस्तुत गाँव का अपना ही साँस्कृतिक महत्व है। यहाँ की भाषा में छपरा अवली आदि नाम और दूसरी ओर विभिन्न देवी-देवताओं के विशेष स्वरूप अपने पीछे किसी लंबी साँस्कृतिक परंपरा अथवा पहचान का बोध करवाते हैं। यहाँ के लोगों की हेय मानसिकता का भी साँस्कृतिक आधार अपने पीछे रोचक तथ्यों को लिए हुए है।

लेखक ने प्रस्तुत निबंध में अपने गाँव के भौगोलिक परिचय के साथ-ही-साथ उस गाँव में रहनेवाले लोगों के स्वाभाव, संस्कार तथा विभिन्न जातियों के साँस्कृतिक इतिहास का भी परिचय दिया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि लेखक का यह छोटा-सा गाँव भारतीय संस्कृति के इतिहास में अपना कितना बड़ा महत्व तथा सहयोग रहता है। गाँव में भडभूजे का पेशा करनेवाली 'काँद' नामक जाति है। पेशे की दृष्टि से या नाम की दृष्टि से ऊपर से देखने पर इसमें कोई विशेष बात नहीं लगती, परंतु लेखक "काँद" शब्द का संबंध संस्कृत के 'कन्दविक' (भूने का पेशा करनेवाला) शब्द से स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं, काँद अथवा कान्दविक शब्द से संबंध 'कन्दु-पक्क' के बारे में हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं कि यह अन्न स्पर्श करने से अपवित्र नहीं होता।¹³ यह सूचना जहाँ एक ओर भुने हुए भाड़ के महत्व को

¹³ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 98

स्थापित करती है, वहाँ हमारी उस परंपरा की ओर भी इंगित करती है, जिसके अंतर्गत हम स्पृश्य-अस्पृश्य की बीमार भावना से जुड़े रहे हैं और निरंतर उस भोजन की तलाश में रहे हैं, जो किसी 'अछूत' द्वारा छूने पर भी अपवित्र न हो। आज इन्हीं तथ्यों की खोज हम विभिन्न शोध ग्रंथों में करते हैं, जब कि यह तथ्य लेखक के ग्रामीण जीवन का सहज अंग बनकर आज भी जीवित है।

इस गाँव में 'कलवार; लोगों की बस्ती है, जिसका पूर्व नाम कल्यपाल है, और यदि हम और भी पीछे उनकी साँस्कृतिक पहचान खोजने का प्रयास करे तो हम देखते हैं कि कभी उनके पूर्वज राजपूत सैनिक थे और सेना के पिछले हिस्से में रहकर कल्यवर्त या कलेऊ की रक्षा करते थे। बाद में यह लोग व्यापार में प्रवृत्त होकर वैश्य अथवा बनिया हो गए। परंतु कल्यवर्त शब्द अपनी साँस्कृतिक पहचान को बनाये रखे हुए 'कलवार' में परिवर्तित होकर आज भी इनके साथ जुड़ा है। दूसरी ओर प्रसिद्ध समाजवादी रसेल की यह मान्यता है कि उत्तर भारत के अधिकांश 'बनिया' जाति के लोग अपना संबंध किसी-न-किसी रूप में राजस्थान से जोड़ते हैं। अब ऐसे में द्विवेदी के गाँव की उक्त बनिया जाति 'कलवार' नाम के माध्यम से रसेल जैसे विद्वानों की मान्यता को अनायास प्रभावित कर रही है। 'कलवार' जाति की ही तरह गाँव में एक जुलाहा जाति है। लेखक के गाँव में अब ये लोग पूरी तरह मुसलमान बनकर रहे हैं। इसी गाँव में इस जुलाहा जाति के पुरोहित भी रहते हैं, जिन्हें 'साई' कहा जाता है। साई अर्थात् स्वामी। नाथ परंपरा में गुरु को नाथ या स्वामी कहते थे। 'गोरखबानी' में गोरखनाथ, मच्छन्दरनाथ को बराबर साई कहकर संबोधित करते थे। आज भले ही जुलाहा जाति के लोग स्वयं मुसलमान हो गए, परंतु पुरोहित लोगों के लिए साई शब्द का संबोधन आज भी साँस्कृतिक यात्रा की कुछ प्राचीन स्मृतियाँ जीवित रखे हुए हैं।

द्विवेदी लिखते हैं कि 'हमारे गाँव के शाकद्वीपीय मग ब्राह्मण भी बहुत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जाति के हैं। इनका संबंध आधुनिक सकड़ीयाना से बताया जाता है, जहाँ के 'मगी' लोग सारे संसार में तंत्र-मंत्र के लिए प्रख्यात थे। अंग्रेज़ी के 'मैजिक' शब्द में इन्हीं मगों की स्मृति जीवित है। कदाचित तंत्र-मंत्र से संबंध होने के कारण भारत में इन्होंने ब्राह्मण की ऊँची मर्यादा पा ली है। इसी गाँव में एक ओर जाति 'दुसाध' भी अपने भीतर संस्कृति की किसी भूली हुई कड़ी को छिपाये हुए जीवित है। आज यह जाति शूद्र मानी जाती है। परंतु कहते हैं कि अंग्रेज़ों को भारत में राज्य-स्थापना करते समय जिन जातियों से बराबर चुनौती मिलती रही, उनमें उत्तर भारत के अहीर और दुसाध तथा बंगाल के डोम थे। यह लड़ाके और कानून मानने से सदा इनकार करते थे। अंग्रेज़ों ने अंततः इन्हें चौकीदार का काम वश में किया। अहीर और डोम जातियों का इतिहास बताता है कि पहले यह लोग प्रबल राज्यों के अधीश्वर थे। बाद में अधिकार छीन जाने पर ये लोग दुर्दान्त हो गए। कहते हैं इनकी देवता राहू बाबा है और लेखक का अनुमान है कि हिंदुओं की गृहमण्डली में राहू देवता का प्रवेश भी कदाचित इन्हीं की मान्यता का परिणाम है। चर्चित गाँव की ही 'तुरहा' जाति का भी निश्चित ही एक साँस्कृतिक महत्व है, ऐसा लेखक का विश्वास है। इस प्रकार विभिन्न जातियों का साँस्कृतिक परिचय देकर द्विवेदी यह सिद्ध करते हैं कि साँस्कृतिक यात्रा का इतिहास आवश्यक नहीं कि कुछ ही चर्चित लोगों, घटनाओं या स्थानों तक सीमित होता है। जिन तथ्यों को बहुत-से शोध ग्रंथों में से विद्वानों को खोजना पड़ता है, वह किसी छोटे से गाँव में वहाँ की जीवन-शैली के सहज अंग के रूप में भी प्राप्त हो सकते हैं।

मेरी जन्मभूमि में द्विवेदी, यह स्थापित करना चाहते हैं कि सबकुछ में मनुष्य ही महत्वपूर्ण है, शेष सभी कुछ उस की कल्याण की कामना से उसके उत्थान के प्रयास में साधन बनकर प्रयुक्त होता है। हमारी जाति-व्यवस्था हमारे रीति-रिवाज़,

हमारे देवी-देवता सभी कुछ उसी विजय यात्रा के मार्ग के तत्व हैं, जो जब तक हमारे सहायक बनकर हमें आगे बढ़ने का बल प्रदान करते हैं, तब तक हम उन्हें स्वीकार नहीं करते हैं और जैसे ही वे हमारे महान लक्ष्य के मार्ग में अपना रचनात्मक महत्व खो बैठते हैं, मनुष्य तुरंत उन्हें झाड़-झटककर नवीन तथ्यों का संग्रह करता है और अपनी यात्रा का भावी मार्ग प्रशस्त करता है। लेखक लिखते हैं – “हमारे गाँव की विविध जातियाँ यह सिद्ध करने को पर्याप्त है कि तथा-कथित जाति-प्रथा कोई फौलादी ढाँचा नहीं है, उसमें अनेक उतार-चढ़ाव होते रहे हैं और होते रहेंगे।”¹ इसलिए लेखक आगे साहित्यकारों व पाठकों को स्पष्ट करते हुए लिखता है, ‘संक्रान्ति काल से आप क्या समझते हैं, यह तो मुझे नहीं मालूम, पर साहित्यक का कर्तव्य जो स्पष्ट है कि वे कभी किसी प्रथा को चिरंतन न समझे, किसी रूढ़ि को दुर्विजय न माने, और आज की बननेवाली रूढ़ियों को भी त्रिकालसिद्ध सत्य न मान ले। इतिहास विधाता का स्पष्ट इंगित इसी ओर है कि मनुष्य में जो ‘मनुष्यता’ है, जो उसे पशु से अलग कर देती है, वही आराध्य है। साहित्य राजनीति और सभी का लक्ष्य मनुष्यता की उन्नति है, यही इस निबंध का भी लक्ष्य है।

‘आम फिर बैरा गए’ द्विवेदी का एक ऐसा निबंध है, जिसमें भारतीय संस्कृति का छाप स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। बिच्छु ऐसा एक प्राणी है, जो आदिम सृष्टि के समय वैसा था, आज भी प्रायः वैसा ही है। कम जंतु इतने अपरिवर्तनशील रहे होंगे। इसी प्रकार हमारी संस्कृति भी अपरिवर्तनशील है। ज़माना बीत गया। अब भी भारतीय संस्कृति पर कोई दरार नहीं आ गया है।

‘योग’ और ‘भोग’ का, हमारी संस्कृति में प्रमुख स्थान है। भोग लालसा से मुक्त होकर, योग साधना में लीन हो जाने का उपदेश भारतीय मनीषियों द्वारा सभी को मिलते हैं। प्रस्तुत निबंध में निबंधकार कहते हैं कि योगी ने भोगी को भस्म कर दिया।

भारतीय जनता का हृदय अधिक संवेदनशील है। वे सुन्दर का सम्मान करना जानते हैं। गृह-देवियाँ लाल-हरे-पीले आम्र कोरक को देखकर आनंद विह्वल हो जाती थीं।

भारतीय संस्कृति में उत्सवों का बड़ा स्थान है। 'सरस्वती कंठाभरण' में लिखा है कि सुवसन्तक, वसन्तावतार के दिन को कहते हैं। वसन्तावतार, अर्थात् जिस दिन वसन्त पृथ्वी पर अवतरित होता है। वसन्त पञ्चमी ही वसन्तावतार की तिथि है। इस दिन उस युग की ललनाएँ कंठ में कुवलय की माला और कान में दुर्लभ आम्र मंझारियाँ धारण करके गाँव को जगमग कर देती थीं। 'कालिका पुराण' में शाबर असुर के नाम पर होनेवाले शबरोत्सव का उल्लेख है, जिसमें अक्षील गाली देना और सुनना ज़रूरी होता है। यह उत्सव सावन में मनाया जाता था और वेश्याएँ प्रमुख रूप से उसमें भाग लेती थीं।

प्रस्तुत निबंध में आर्य संस्कृति का परामर्श भी देखा जा सकता है। आर्यों को इस देश में संघर्ष सबसे अधिक असुरों से करना पड़ा था। दैत्यों, दानवों और राक्षसों से भी उन्हें संघर्ष करना पड़ा, लेकिन असुरों से लड़ने में उन्हें बड़ी शक्ति लगानी पड़ी थी। गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरों से आर्यों को कभी नहीं लड़ना पड़ा। ये जातियाँ अधिक शांतिप्रिय थीं। विलासिता की मात्रा इनमें कुछ अधिक थी। ये लोग आर्यों से मिल गये थे।

पुराण कथाएँ, भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। प्रस्तुत निबंध में निबंधकार ने अपनी लक्ष्यपूर्ति के लिए पुराण कथाओं को जोड़ा है। असुरों की आखिरी हार अनिरुद्ध और उषा के विवाह के अवसर पर हुई थी। असुरों की ओर से भगवान शंकर का समूचा दल लड़ रहा था। शिवजी, श्रीकृष्ण से गूँथे थे, कालदेवता स्कन्द से। शिवजी के दल में भूत थे, बेताल थे, विनायक थे, डाकिनियाँ थी, प्रेत थे,

पिशाच थे, ब्रह्मराक्षस थे, यानि पूरी सेना थी। इस लड़ाई में असुर बुरी तरह हारे। शिवजी भी हारे। महाभारत में यह कथा विस्तार से कही गई है।

‘आत्मदान का संदेशवाहक-वसन्त’ नामक निबंध में भारतीय संस्कृति का स्पष्ट छाप दिखाई देता है। हमारी संस्कृति में उत्सवों का प्रमुख स्थान है। प्रस्तुत निबंध में वसन्तकाल के कुछ उत्सवों के बारे में प्रकाश डाला है। कभी अशोक दोहद के रूप में, कभी मदन-देवता की पूजा के रूप में, कभी कामदेवायन यात्रा के रूप में, कभी आम्र तरु और माधवीलता के विवाह के रूप में, कभी डोली के रूप में समूचा वसन्तकाल नाच-गान और काव्यालाप से मुखर उठता है।

वसन्त ऋतू में महाकाल देवता के अबोध आनंद को व्यक्त करते हुए द्विवेदी जो बात कहते हैं वह हमारी संस्कृति के अनुयोज्य ही सिद्ध होता है। वे कहते हैं कि त्रिपुर सुंदरी का त्रैलोक्य मोहन रूप निश्चय ही किसी बड़े उद्देश्य के लिए है। किस प्रकार छोटे से चैतन्य कण ने अपने को मानव बुद्धि के रूप में विकसित किया है। जड़ से चैतन्य, चैतन्य से मन बुद्धि, मन बुद्धि से मनुष्यत्व का विकास चकित कर देनेवाली घटना है। यह पद्म कलिका के विकास के समान है, एक-एक दल उभरते जा रहा है, धीरे-धीरे सुगंधी अपने आपको उद्घाटित करती जा रही है। समाज-कल्याण का भाव इसमें देखा जा सकता है।

आत्मसमर्पण या आत्मदान वसन्त में है, जो हमारी संस्कृति का जड़ है। भारतीय संस्कृति का मूल स्वर प्रेम और आत्मदान है। वसन्त का काल समस्त चराचर को उन्मथित करके, समूची धरती को पुष्पाभरण बनाकर और मनुष्य के चित्त में कोमल वृत्तियों को जागरित करके, यही संदेश ले आता है कि सार्थकता आत्मदान में है। अपने आपको निछावर कर देने में ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। युद्ध और प्रतिहिंसा के भाव क्षणिक हैं। वसन्त इसी की याद दिलाते हैं। सनातन से,

वसन्त उसी आत्मदान की उल्लासदायिनी वेदना का चित्र माना जाता है। ज्योतिषियों के लिए वसन्त, धरती की मध्यरेखा का, सूर्य के ठीक-ठीक सामने पहुँच जाने के आसपास का समय है।

‘आंतरिक शुचिता भी आवश्यक है’ निबंध में भौतिकता एवं भौतिक उपलब्धियों के अतिवादी आग्रह एवं विवेकहीन कुसंस्कारों के अनियंत्रित विकास के प्रति तीखी प्रतिक्रिया है। “द्विवेदी की मान्यता है कि विवेक, उदारता, समता, संवेदनशील, आत्मसम्मान, परसम्मान, श्रद्धा जैसे मानवीय गुणों का विकास नहीं हो सका तो, मनुष्य पशु से भिन्न नहीं है।”¹⁴ सभ्यता के गांधीजी के सिद्धांत और आचरण की एक रूपता के साक्ष्य पर आचार्य द्विवेदी एस मान्यता को प्रतिष्ठित करते हैं कि सभ्यता के बाह्य उपादानों का आंतरिक शुचिता से मंडित होना अनिवार्य है, अन्यथा विपथ होना अवश्यम्भावी है। भावी विकास के लिए अतीत की उपेक्षा अहितकर है। पुराने ग्रन्थ ऐतिहासिक भग्नावशेष हमारी कलात्मक कृतियाँ मनुष्य को संवेदनशील संयमी सौंदर्यप्रेमी और मनुष्योचित गुणों के प्रति निष्ठावान बनाती हैं। भौतिक उपलब्धियाँ केवल एकांगी उन्नति प्रदान कर सकती हैं क्योंकि जब तक हमारा भीतर पवित्र नहीं होता, तब तक हम उन्नत और सभ्य नहीं हो सकेंगे। इसमें परंपरा के प्रति द्विवेदी का लगाव स्पष्ट होता है।

‘सावधानी की आवश्यकता’ में रचनाकार साहित्यकार को सावधानी से काम लेने का आह्वान देते हैं। हमारा देश शताब्दियों की गुलामी के बाद स्वाधीन हुआ है। निस्संदेह स्वाधीनता की लड़ाई हम ने अपने कंधों पर लड़ी है, जिसका परोक्ष अर्थ है कि हमारे भीतर वह तेज, राष्ट्रप्रेम, उत्साह तथा आत्मविश्वास जीवित था, जिसने हमें इस लड़ाई को जारी रखने का आत्मबल दिया। उसी के फलस्वरूप आज हम स्वाधीन हुए हैं। अब हमारा दायित्व और भी बढ़ गया है क्योंकि अब हमें एकसाथ

¹⁴ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 434

अपनी स्वाधीनता की रक्षा करनी है और अपने भविष्य का निर्माण उन मूल्यों की नींव पर करना है जो हमें सुदृढता और उज्ज्वल भविष्य की स्थितरता दे सके। इतना ही नहीं; हमें अपने संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र के कल्याण का भी पथ निर्मित करना है और यह सभी कार्य मात्र साहित्य ही कर सकता है। प्रस्तुत निबंध में राष्ट्रप्रेम, समाज कल्याण आदि नैतिक मूल्यों का विकास ही द्विवेदी का लक्ष्य मालूम होता है। भारतीय संस्कृति कुंठाओं के परिणाम नहीं, अपितु उन मूल्यों से निर्मित है, जो कालजयी तथा सर्वकल्याणकारी भावना पर स्थिर है। इसके लिए हमें बहुत सावधानी से साहित्य का निर्माण करना होगा और उसके विषय तथा प्रतिपाद्य का चयन करते समय बहुत गंभीरता तथा दूरदर्शिता से निर्णय लेना होगा। प्रस्तुत निबंध इसी सोच से जुड़कर हमारे समक्ष आया है जिसमें अपनी सोच को प्रेषित करने में लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। मानवीय मूल्यों को प्रतिपादित करते समय द्विवेदी सभ्यता को ज़ोर से पकड़ लेता है।

‘आपने मेरी रचना पढ़ी’ आज साहित्यकारों और आलोचकों ने मिलकर साहित्य के वास्तविक लक्ष्य से पथ-भ्रष्ट कर दिया है। लेखक ने साहित्य के इस दयनीय स्थिति से चिंतित होकर ही प्रस्तुत निबंध की रचना की है। ‘सावधानी की आवश्यकता’ निबंध में जो मानवीय मूल्यों का उद्घाटन द्विवेदी ने की है, उसी को और भी ज़ोर से पकड़ते हुए प्रस्तुत निबंध के द्वारा वे कहते हैं कि मानव संस्कृति पर साहित्यकार की भागीदारी बहुत बड़ी है।

‘भगवान महाकाल का कुंठ नृत्य’ निबंध भारतीय स्वातंत्र्य की पृष्ठभूमि के व्यापक संघर्ष एवं परवर्ती परिणतियों के चिंतन पर आधारित है। द्विवेदी कहते हैं कि भारतीयों में नैतिक बल है। घोर विपत्ति के क्षणों में भी हम ने अन्याय का पक्ष कभी नहीं लिया है। जिस बात को हम सत्य समझ रहे हैं, उसके लिए बड़ा से बलिदान

देने को तैयार भी रहे हैं। हम ने निर्भीक भाव से, गर्व के साथ अपना मस्तक उन्नत रखा है। यही हमारी संस्कृति है। यही कारण से ही हम जीतते ही गए हैं।

यह हमारी विशाल सांस्कृतिक महिमा का ही प्रभाव है कि हम अन्याय करके लज्जित होते हैं। और अगर यह लज्जा सच्ची हुई तो हम अन्याय का प्रतिकार भी कर सकते हैं। घृणा और द्वेष हमारा रास्ता नहीं है। अन्याय करना या किए अन्याय को बर्दाश्त करना हमारा स्वभाव नहीं है। हम दुर्बल की रक्षा करेंगे और अत्याचारी का विरोध करेंगे। इस महान आदर्श के लिए हम जूझना पड़ेगा, चोट सहनी पड़ेगी, लेकिन हम सकेंगे नहीं। हम ने जब करोड़ों को विपत्ति और दासता से उबारने का वचन दिया है तब हम वचन पालन अवश्य करेंगे, चाहे जितना भी कष्ट झेलना पड़े। यही हमारी मानवीय परंपरा का निचोड़ है।

द्विवेदी का प्रस्तुत निबंध वैचारिक है। वे स्वतंत्रता आन्दोलन के समय गाँधी एवं अन्य देश भक्तों के अविस्मरणीय त्याग और बलिदान के भावपूर्ण स्मरण के साथ ही उदात्त साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से समृद्ध अंग्रेज़ी की चारित्रिक विशेषताओं को उदारतापूर्वक स्वीकार करते हैं, किंतु स्वातंत्र्योत्तर काल में उत्पन्न देशी शत्रुओं की स्वार्थपरक एवं घटक नीतियों पर हार्दिक क्षोभ व्यक्त करते हैं। वे वर्तमान संदर्भ में अपना व्यवहारिक सुझाव प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि “इस विषाक्त वातावरण में हमें अपने पारंपरिक संस्कारों को परिवर्तित करना होगा। स्वार्थी के संघर्ष में दायित्व के निर्वाह के लिए स्वार्थ और परमार्थ के बीच सामंजस्य की खोज आवश्यक है।”¹⁵

‘धर्मस्य तत्त्व निहितम गृहायम’ निबंध में आचार्य द्विवेदी ने आर्य सभ्यता के पूर्व के अधुनातम धार्मिक परिणतियों के विश्लेषण क्रम में मानव के उत्थान - पतन

¹⁵ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 161

की विस्तृत कहानी प्रस्तुत की है। आर्यों से भी पहले इस देश में महान द्रविड़ सभ्यता वर्तमान थी, उस सभ्यता के अनेक महत्वपूर्ण उपादान बाद में भारतीय धर्म साधना के अविच्छेद्य अंग बन गए हैं, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। द्रविड़ सभ्यता का संबंध सुदूर मिश्र और बैबिलोनिया तक स्थापित किया जा सका है और यद्यपि अब धीरे-धीरे पंडितों का विश्वास होता जा रहा है कि द्रविड़ जाति की कल्पना, कल्पना मात्र ही नहीं है, पर एक समृद्ध आर्य पूर्व द्रविड़ सभ्यता की धारणा और भी पुष्ट हुई है।

निषाद या कोल भाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इन लोल भाषा-भाषी लोगों की, जो अब तक जंगली समझकर उपेक्षा की गई थी, वह एकदम अनुचित और निराधार थी। इन भाषाओं का संबंध आस्ट्रेलिया और एशिया में फैली हुई अनेक जन-भाषाओं से स्थापित किया गया है और यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि आज के हिन्दू समाज में अनेक ऐसी जातियाँ हैं, जिनका मूल निषाद जातियों में खोजना पड़ेगा। हिन्दू धर्म में श्रद्धा और सम्मान पानेवाले बहुत से विश्वास मूलतः निषाद जातियों के हैं।

प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी कहते हैं कि “पिछले कुछ वर्षों में सभी आर्योंतर विश्वासों को द्रविड़ विश्वास कह देने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। इस प्रकार शिव और विष्णु की पूजा भी द्रविड़ विश्वास है, पुनर्जन्म और कर्मफल में विश्वास भी द्रविड़ सभ्यता की देन है। वैराग्य और कृच्छ्र तप पर जोर देना भी द्रविड़ विश्वास है।”¹⁶

प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी वैदिक संस्कृति, द्रविड़ संस्कृति, श्रमण संस्कृति, जैन संस्कृति आदि का विस्तृत विश्लेषण करते हुए संस्कृतियों के परस्पर संघातो एवं विविध परिणतियों को प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक धार्मिक परिवर्तन के लिए उसकी परिपार्शिक स्थिति उत्तरदायी होती, जिसके ज्ञान के अभाव में धार्मिक

¹⁶ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 337

अवधारणा का बोध असंभव है। प्रत्येक धर्म और संस्कृति में परिष्कार की अनंत प्रक्रिया बनी रहती है। यही मानवीय विकास का क्रम है। द्विवेदी का स्पष्ट कथन है कि जातिगत और संप्रदायगत संकीर्णताओं से जर्जरित काल में यदि हम जान सके कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्भयता के साथ, संस्कृति के साथ चिपटे हुए सड़े छिलके को फेंकते आया है और किस दुर्वार शक्ति से अन्य प्राणियों के सत्य को ग्रहण करता है तो वह कम लाभ नहीं।

‘संस्कृतियों का संगम’ निबंध में द्विवेदी ने वर्तमान भारतीय संस्कृति को निर्मित करनेवाले अनेक घटक तत्वों एवं ऐतिहासिक क्रम में घटित विकास प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। पुरातत्व, इतिहास एवं लोकविश्रुत आख्यानों के आधार पर प्राचीन भारतीय संस्कृति, अन्य सभ्यताओं के साथ उसका संबंध, आदान-प्रदान की प्रक्रिया में परस्पर प्रभाव, द्रविण सभ्यता का गवेषणात्मक इतिहास, अनेक जातियों के मिश्रण से नई जातियों के निर्माण का विस्तृत आलेख प्रस्तुत किया गया है। आर्यों के आगमन से लेकर उनके अद्यतन विस्तार एवं प्रसार को देशी-विदेशी विद्वानों की स्थापनाओं के साक्ष्य पर अपने मत को पुष्ट करते हुए द्विवेदी कहते हैं कि जो अनेक जातियाँ भारतवर्ष में आई, उन सबके सम्मिलित प्रयत्न से वह महिमशालिनी संस्कृति उत्पन्न हुई, जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं।

वृक्ष पूजा, लिंग पूजा आदि जो भारतीय संस्कृति की विशेषता है उसका परामर्श भी प्रस्तुत निबंध में हुआ है। रविन्द्रनाथ ने कहा है – “यह भारतवर्ष महामानव समुद्र है। केवल आर्य, द्रविड, लोल, मुंडा तथा किरात-जातियाँ ही इसमें नहीं आयी हैं। कितनी ही ऐसी जातियाँ यहाँ आई हैं, जिन्हें निश्चित रूप से किसी खास श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। फिर उत्तर-पश्चिम से नाना जातियाँ राजनीतिक

और आर्थिक कारणों से आती रही है। उन सबके सम्मिलित प्रयत्न से वह महिमशालिनी संस्कृति उत्पन्न हुई है जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं”¹।

पंडितों में यह विश्वास जमता जा रहा है कि वृक्ष पूजा, नरबली, जीव-बलि, मद्य-मांस की बलि, प्रेत-पूजा आदि आचारों के मूल उत्स मुंडा या ककोल जातियाँ हैं और मूर्ति पूजा, ध्यान जप, गुरुपूजा, अवतारवाद आदि के मूल प्रेरणा स्रोत ऐसी जातियाँ है, जो इन कोल-मुंडा आदि श्रेणी की जातियाँ से अधिक सभ्य और समृद्ध थी। ये द्रविड़ माने गये।

परवर्ती काल का वह तंत्रवाद, जिसमें स्त्री तत्व की प्रधानता थी, और शरीर को ही समस्त सिद्धियों का श्रेष्ठ साधन माना जाता था, यक्ष-गन्धर्व आदि किरात जातियों की देन रहा होगा। ऐसा द्विवेदी की मान्यता है। उत्तर से ही कापालिक और वाममार्गी का आगमन हुआ होगा। बंगाल में इन लोगों के साथ द्रविड़ जातियों के मिश्रण से एक नई जाति का जन्म हुआ है। बाद में आर्य रक्त का भी इस जाति में मिश्रण हुआ है।

‘हिमालय’ नामक निबंध में द्विवेदी ने भारतीय संस्कृति में हिमालय की भूमिका कितनी है इसका उल्लेख किया है। रामायण और महाभारत हमारी सभ्यता और संस्कृति के अक्षय भंडार है। इन ग्रंथों में देवतात्मा नागाधिराज की चर्चा अनेक रूपों में पाई जाती है। इस पर्वत के प्रत्येक शिखर, प्रत्येक नदी, प्रत्येक सरोवर के विषय में और उनके ईद-गिर्द रहनेवाली जातियों के विषय में चर्चा है। हिमालय में बसनेवाली जातियों के संबंध में महाभारत और रामायण में बड़ी प्रीत भावना का परिचय मिलता है। “उन्हें देवयोनि का जीव माना गया है”¹⁷ उनके शील और कला-प्रियता की प्रशंसा की गई है, ये अधिक धर्म-परायण और आत्मीय समझा गया है।

¹⁷ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 145

कभी-कभी इन जातियों के साथ मैदान में रहनेवालो के बीच का संघर्ष भी बताया गया है। इन जातियों के वंशधर भारतीय मैदान में उच्चकुलीन क्षत्रिय राजवंश के रूप में सम्मानित हुए हैं और भारतीय धर्म और संस्कृति के रक्षक बताये गये हैं।

द्विवेदी बताते हैं कि “केवल नदियों और अन्य भौतिक समृद्धियों के कारण ही हम उसे अपनी अमूल्य निधि नहीं मानते, उसने भारतीय धर्म, संस्कृति, और जनता को अत्भुत ढंग से प्रभावित किया है।”¹⁸ वन-पर्व में हिमालय के कोने-कोने में बसनेवाली जातियों की चर्चा है। किरातों को महाभारत में नुकीली चोटीवाले, सोने के रंग के, कच्चा मांस और मछली खानेवाले और बहादुर कहा गया है। सभा-पर्व में भी इसका उल्लेख है। इसी प्रकार तुषारों, क्रचिकों, विद्याधरों, किन्नरों, खस्ते, काम्बोदी आदि का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इनके साथ विवाह आदि के संबंध में भी बड़ी रोचक कहानियाँ इसमें पाई जाती हैं। भारतीय महाजाति के निर्माण में व्रत-उपासना और धार्मिक चेतना के निर्माण में इन जातियों की महत्वपूर्ण देन है। भारतवर्ष के महामानव समुद्र को रूप देने में इन जातियों का बहुत योगदान है। इनका कला-प्रेम, संगीत-प्रेम और अपेक्षाकृत स्वच्छंद जीवन भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बन गये हैं। हिमालय के विभिन्न भागों में बसी हुई जातियों की परंपराओं के सम्यक अध्ययन से हमारे इतिहास की अनेक गुत्थियों के सुलझने की आशा है। हिमालय, हमारी संस्कृति का ही नहीं, हमारे अस्तित्व का भी मेरुदण्ड है।

हिमालय हमारी भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का उत्स माना जाता है। हिमालय को भारतीय साहित्य और इतिहास से हटा नहीं सकता। हिमालय हमारा प्रहरी है, देवभूमि है, रत्नखनी है, इतिहास विधाता है, संस्कृति-मेरुदण्ड है।

¹⁸ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 148

भारतवर्ष में नारियों का आदर किया जाता है। भारतीय नारी की मर्यादा, उसका सतीत्व, तेज और उत्तम चरित्र लोक माननीय है। इसका उल्लेख भी प्रस्तुत निबंध में देखा जा सकता है।

‘वैशाली’ नामक निबंध में द्विवेदी ने वैशाली पुरी की महत्ता तथा विशेषताओं के बारे में बताया है। वैशाली इक्ष्वाकु के पुत्र राजा विशाल द्वारा स्थापित हुई थी। वहाँ इसका नाम विशालपुरी दिया हुआ है। भगवान महावीर को जन्म देने का सौभाग्य इस पुरी को प्राप्त हुआ है। ज्ञान, तपस्या और विद्वत्ता का यह केन्द्र रही है। कला-कौशल और उद्योग का भी यह केन्द्र है। नृत्य, गीत, उत्सव, यात्रा आदि में इसकी धाक रही है। यक्ष पूजा का कभी यहाँ बड़ा सम्मान रहा होगा। अनेक पुष्करिनियों और सरोवरों से यह भरी थी। यही कहीं लिच्छवियों की वह अभिषेक पुष्करिणी थी, जिसके पवित्र जल को स्पर्श करने का साहस किसी को नहीं होता था।

वैशाली के नागरिकों ने अपने समाज के प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान किया, अपने बनाए नियमों का पालन किया, अपने बुजुर्गों की बात मानी, अपनी कुल स्त्रियों की महिमा का आदर किया, अपने पूजनीयों की पूजा की, धर्म और ज्ञान में जो श्रेष्ठ है, वे चाहे घर के या बहार के, सबको स्वतंत्र भाव से विचरण करने दिया, उनका स्वागत सम्मान किया, तब तक चंचला लक्ष्मी स्थिर बनकर विराजती रही, विकृत शत्रु उनकी ओर ताकने का साहस नहीं कर सका। वे सब प्रकार के अजेय बने रहे।

भगवान महावीर ने कहा था – “अपने को संयत करो, त्याग में सुख है। कामनाओं के पीछे दौड़ते-फिरने से कामनाओं की तृप्ति नहीं होती। सच्ची तृप्ति त्याग से होती है। अपने को इसी संयम से संयम करो। धूल से बचना चाहते हो तो सारी

दुनिया को चमड़े से मढने की दुराशा में मत पडों अपने पैरों को चमड़े से ढँक लो।”¹⁹ निबंधकार कहते हैं कि महिमामयी वैशाली का नाम लेकर हम गर्व कर सकते हैं, जिसकी धरती इस भारतभूमि की कीर्ति पताका है।

‘भारत की ऐक्य साधना-साहित्य के क्षेत्र में’ नामक निबंध में भारतीय संस्कृति का छाप स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। वेद, हमारे सभी साहित्यिक और सांस्कृतिक विधि-विधानों का प्रेरक माना जा रहा है। ‘वेद’ का अर्थ है ‘विशुद्ध ज्ञान’। बढ़ती हुई मानव बुद्धि के साथ विशुद्ध ज्ञान के सामंजस्य का प्रयत्न निरंतर होता रहा है। यही भारतीय मनीषियों को एक अपूर्व संयम और निष्ठा से संपन्न बना देता है।

वात्मिकी के रामायण ने आदर्श मानव का चरित्र दिया है। ऐसा मानव, जिसकी ऊँचाई हज़ार प्रयत्नों के बाद भी दो अंगुल ऊपर ही रहने देती है। राम और सीता के रूपों में जो आदर्श पुरुष भारतीय चित्त में प्रतिष्ठित हुआ था, वह निरंतर परिष्कृत होता गया है। जीवरूप परिस्थितियाँ उसकी उपेक्षा नहीं कर सकी, बुद्धिगत विकास उसे धूमिल नहीं कर सका। भारतवर्ष यही आदर्शों को हाथ में लेकर आगे बढ़ रहे हैं।

रामायण और महाभारत, भारत की एकता को बनाये रखने में बहुत योगदान दिया है। इन महान ग्रंथों ने मनुष्य को पशु सुलभ धरातल से बहुत ऊपर उठाकर रखा है। मनुष्य की चरित्रार्थता अपने महतम स्वरूप को उपलब्ध करने में है, जो संयम से, त्याग से, तप से, विवेक से प्राप्त होती है। परम पावन करनेवाला धर्म है। वह मनुष्य को संकीर्णता, स्वार्थ-परता, अहंभव आदि से मुक्त करके ही चरितार्थ होता है। सच्चा सुख त्याग में है, तपस्या में है, ज्ञानोन्मुख होने में है। एक आदर्श, एक जीवन दर्शन, एक प्रेरणा, एक लक्ष्य। न जाने कब से भारत की अन्तात्मा में प्रतिष्ठित

¹⁹ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 152

यह अत्भुत एकता काम करती आ रही है। इतने वैविध्य और वैचित्र्य के अंतर में ऐसी अगाध एकता की बात आश्चर्यजनक है, पर सत्य है। 'विविधता में एकता भारत की अपनी संपत्ति है।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का निबन्ध 'मध्यममार्ग' में बुद्ध संस्कृति का, विस्तृत रूप से वर्णन हुआ है। बुद्ध, छः वर्ष तक बोधि वृक्ष के निचे आसन जमाकर समाधि लगाई थी। दीर्घ चिन्तन और मनन के बाद उन्हें चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार हुआ था। उन्होंने जाना कि, (1) दुःख है, (2) दुःख का कारण भी है (3) उसका निरोध भी है (4) इस निरोध का उपाय भी है। उन्होंने आत्मा और ब्रह्म के पचड़े में पड़ना ठीक नहीं समझा।²⁰ यद्यपि उन्होंने आत्मा के नित्य और शाश्वत होने की बात नहीं मानी, या कम से कम उसके बेकार के टंटे में पड़ना आवश्यक नहीं समझा। दुःख के निरोध का उपाय बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आठ अंगेवाला मध्यम मार्ग है। बहुत विचार के बाद भगवान ने बताया कि तृष्णा और कामना सब दुखों का मूल है, उसी के कारण प्राप्त बार-बार जन्म और मृत्यु के चक्कर में पड़ते हैं। इस चक्कर से अत्यधिक निवृत्ति तभी हो सकती है, जब तृष्णा का क्षय हो जाये। इन्द्रिय निग्रह से, ध्यान से, वैराग्य से, शीलयुक्त आचरण से सब प्राणियों के प्रति अहैतुकी मैत्री – भावना से इस उद्देश्य की सिद्धि होती है। इसके लिए आवश्यक है संयत जीवन, विवेक सहित रहना, शील का पालन, मैत्री का आचरण। बुद्ध ने पवित्र जीवन पर ही बल दिया।

श्रीकृष्ण ने कहा था कि असल में जब संयमित चित्त अपने – अपने ही स्थिर हो जाता हो और सब कामनाओं से निस्पृह हो जाता हो, तभी आदमी सच्चा योगयुक्त होता है, यह भी मध्यम मार्ग ही है। भगवान बुद्ध ने कहा कि वही

²⁰ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 261

सुखी है जो जय – पराजय की भावना का त्याग करता है। जय की भावना से वैर उत्पन्न होता है, पराजय से दुःख उत्पन्न होता है। अतः दोनों का परित्याग करके उपशान्त होकर सुख का आसेवन करना चाहिए। राग, द्वेष और मोह ये तीन अकुशल मूल हैं। राग के सामान कोई अग्नि नहीं है, द्वेष सामान कोई कलि नहीं है, और शान्ति के समान कोई सुख नहीं है। अक्रोध के द्वारा कर्ष को और सत्य के द्वारा झूठ को जीतना चाहिए। बुद्ध ने संयमित जीवन, अहिंसा, मैत्री भावना और शीलयुक्त आचरण पर बल दिया, यही बुद्ध संस्कृति है।

‘भारतीय संस्कृति’ निबंध में द्विवेदी, भारत के साँस्कृतिक दृष्टिकोण का परिचय हमें देते हैं। आर्य, द्रविड़, किरात, हूण, शक आदि अनेक जातियों के विश्वास और रीति – निति इसमें रहे हैं। बहुत सी पुरानी मान्यताएँ कमज़ोर होती रही हैं और प्रायः विस्मृत कर दी गई हैं। बहुत – सी नई कल्पनाएँ जुड़ती रही हैं। इसप्रकार जिस संस्कृति में कभी इंद्र, वरुण आदि देवताओं का प्राधान्य था, यज्ञ-याग का बाहुल्य था उसमें दूसरे समय शिव, विष्णु, आदि देवताओं और पूजा – पाठ, तीर्थ – व्रत आदि का प्रधान हो गया। द्विवेदी कहते हैं कि संस्कृति मेरे मन में सर्वोचित चिन्तन – मनन के मूर्त रूप का नाम है। मूर्त में जिस प्रकार मन्दिर मूर्ति, चित्रकला आदि बातें आती हैं, उसी प्रकार कविता, नाटक, संगीत, धर्म, शिष्टाचार भी आते हैं। जहाँ कहीं फार्म या रूप है वही मेरे विचार से मूर्त है। परन्तु सभी मूर्त रूप या आधार संस्कृति नहीं हैं। किसी देश या काल के सर्वोत्तम चिन्तन – मनन को ही मैं उस देश का काल की संस्कृति कहता हूँ। भारतवर्ष ने अपने विशाल इतिहास के दौरान बहुत कुछ सोचा है, अच्छा भी, कम अच्छा भी और कभी – कभी गलत भी।

सबकी मूर्त रूप की गणना मैं 'संस्कृति' में नहीं करता। मैं उनको ही भारतीय संस्कृति में गिनता हूँ जो सर्वोत्तम है। अर्थात् मनुष्य को पशु – सुलभ धरालता से अधिक से अधिक ऊपर उठाने में और मानवता के सिंहासन पर अधिक से अधिक दृढ़तापूर्वक बैठने में समर्थ है। जो बातें मनुष्य को जड़ता की ओर और पशु सुलभ स्वार्थ, लोभ – मोह और जुगुक्षित आचरण की ओर ले जानेवाली है, उन्हें मैं संस्कृति मानता हूँ। इस श्रेष्ठ मानवीय प्राप्ति को भारतीय संस्कृति इसलिए कहता हूँ कि वे भारतीय संदर्भ में मनीषियों द्वारा पुरस्कृत है। हर व्यक्ति को, देवता हो चाहे दानव, पुरुष हो या स्त्री, अपने किये का फल भोगने के लिए मनुष्य अनेक जन्म ग्रहण करता है। जब तक वह संपूर्ण फल भोग नहीं लेता, तब उसका विस्तार नहीं होता। यह पुनर्जन्म का सिद्धांत है। मनुष्य की दृष्टि जब तक तप, भक्ति, सेवा, समाधि, व्रत, अध्ययन के जाल से मुक्त नहीं होता। यह आवागमन ही भव या संसार है। ये कुछ ऐसे सामान्य स्वीकृत तथ्य हैं जो भारतवर्ष के हर मत और हर संप्रदाय में स्वीकृत हैं। विदेशी विद्वानों ने तो पुनर्जन्म के सिद्धांतों को भारतीय संस्कृति का लक्षण माना है।

'भारतीय मेले' नामक निबंध में निबंधकार बताना चाहते हैं कि भारतीय संस्कृति अनेक प्रकार के विश्वासों का समन्वित रूप है। इस देश में बाहर से विभिन्न जातियों का आगमन होता रहा है। उनके आचार – विचार और विश्वासों के तह पर जमते जा रहे हैं। जो जातियाँ या कबीले बाहर से आते रहे वे स्वतंत्र जाति के रूप में अपने विश्वासों और सामाजिक संघटनों के साथ बसे जाते रहें और धीरे – धीरे वे इस विशाल महादेश के जीवन अंग बन जाते रहे। वे यहाँ बसनेवाली जातियों के आचार- विचार विश्वासों से प्रभावित होते रहे और प्रभावित भी करते रहे। शताब्दियों तक यह प्रक्रिया चलती रही है और आज भी चल रही है। ऐसा संसार में सर्वत्र होता रहता है, फिर भी भारतवर्ष की अपनी विशेषताएँ हैं। ऐसी विशेषता,

जो संसार में अन्यत्र दुर्लभ है। ये मानव मंडलियाँ अपने आचार-विचार और सामाजिक संघटनों को यथा संभव कायम रखते हुए भी धीरे-धीरे एक महाजाति का अंग बन जाती थी। आज जो इतनी जातियाँ, इतनी विचित्र प्रथाएँ और इतने प्रकार के धार्मिक विश्वास दिखाई देते हैं, वे इसी प्रक्रिया की देन हैं। भारतीय समाज में व्यक्ति का धर्मान्तरीकरण नहीं होता था, पूरा-का-पूरा कबीला या जाति ही इस समाज का अंग बन जाती थी। उनके संस्कारों और आचारों के तारतम्य के अनुसार शास्त्रकार उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्त्यज श्रेणी में रख देते थे। एक श्रेणी के लोग अपने विशेष मर्यादा की रक्षा के लिए अन्य श्रेणी के साथ खान – पान और शादी – ब्याह का संबन्ध नहीं करते थे।

भारत की एकता को बनाये रखने में तीर्थ, व्रत, त्योहार और मेला का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ की कई तरह की जातियाँ एक दूसरे के विश्वासों के प्रति सदा आदर भाव रखा है, और उन्हें सामूहिक रूप से अपनाने का प्रयास निरन्तर होता रहा है। आज के तीर्थ, व्रतों, त्योहारों और मेलों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें विभिन्न जातियों के धार्मिक विश्वासों को अपनाने और सर्वात्मा ग्रहण करने की प्रवृत्ति है। हिन्दुओं के तैंतीस करोड़ देवता न जाने किन – किन जातियों से लिये गये हैं, जिन्हें बहुत ऊँची सामाजिक मर्यादा नहीं प्राप्त है। नागों, यक्षों, पीरों, भूत, भैरवों, कलि-दुर्गा, यहाँ तक कि शिव-विष्णु की पूजा और तत्त्वसंबन्धी विश्वास भी जातियों, कबीलों और नस्लों के लोगो से ग्रहण किये गये हैं। इस प्रकार अपने इस निबंध में द्विवेदी इस बात का समर्थन करते हैं कि भारतीय संस्कृति, अनेक विश्वासों का समन्वित रूप है।

‘सभ्यता और संस्कृति’ में द्विवेदी ने इन तत्वों के भेद को व्यक्त किया है। अस्तव्यस्तता, सशंकता और अरक्षणीयता का जहाँ अन्त होता है ‘सिविलैज़ेशन’ या

सभ्यता वहीं से शुरू होती है क्योंकि जब भय का भाव दब जाता है और मनुष्य की कुतूहलवृत्ति और रचनात्मक प्रवृत्ति बन्धनहीन होती है तभी मनुष्य पशुसुलभ प्राकृतिकता से ऊपर उठकर समझौते और सहानुभूति के जीवन की ओर अग्रसर होता है।

द्विवेदी के मत में सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता, समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का। सभ्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा – असुविधाओं पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श पर, सभ्यता का ध्यान व्यवस्था पर रखता है, संस्कृति का व्यवस्था के अतीत पर, सभ्यता के निकट कानून मनुष्य से बड़ी चीज़ है, लेकिन संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य कानून के परे है, सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल है, संस्कृति आन्तरिक होने के कारण स्थायी है। सभ्यता, समाज को सुरक्षित रखकर उसके व्यक्तियों को इस बात की सुविधा देती है कि वे अपना आन्तरिक विकास करें। इसलिए देश की सभ्यता जितनी पूर्ण होगी, अर्थात् उसकी व्यवस्था जितनी सहज होगी, राजनीतिक संगठन जितना ही पूर्ण होगा, नैतिक परम्परा जितनी ही विशुद्ध होगी और ज्ञानानुशीलन की भावना जितनी प्रबल होगी, उस देश के वासी उसी परिमाण में सुसंस्कृत होंगे। इसलिए सभ्यता और संस्कृति में संबन्ध है।

हमारी सभ्यता आर्य सभ्यता है, हमारी संस्कृति के नस – नस में आर्य रक्त प्रवाहित हो रहा है। इस गर्वानुभूति के साथ – ही-साथ ज्ञात या अज्ञात भाव से हम सदा सोचते रहे-हम वही आर्य हैं जो संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति हैं। हमारी चिन्ता सर्वश्रेष्ठ चिन्ता है। हमारी संस्कृति सर्वोत्तम संस्कृति है।

आर्य भाषा बोलनेवाली सभी जातियाँ आर्य नहीं हैं। इधर भारतवर्ष की सभ्यता संपूर्णतः आर्य सभ्यता नहीं है। भारतीय संस्कृति पठार पर जमे हुए अनेक बालुकास्तरों की भांति नाना साधनाओं और संस्कृतियों के योग से बनी है। आर्य के आने के पहले इस देश में सभ्यतर द्राविड जाति बस रही थी। राजनितिक रूप में विजित होने पर भी उनकी संस्कृति विजयी हुई। उपनिषदों का बहुधा विज्ञापित 'अध्यात्मवाद' आर्य की अपेक्षा आर्योत्तर अधिक है। वर्तमान भारतवर्ष का धर्ममत अधिकांश में आर्यतर है। सरलता और ओजस्विता के कारण आर्यभाषा की जीत हुई, पर उसके सौन्दर्य सरसता – व्यजक रूप के लिए आर्योत्तर जातियों का श्रेणी होना ही पड़ेगा। भारतीय दर्शन अनेकांश में आर्योत्तर सिद्धांतों से प्रभावित हुआ है।

इस प्रकार मूल में भारतीय संस्कृति कई बलवती सभ्यताओं के योग से बनी। आर्य – द्रविड़ और यक्ष – नाग सभ्यता की त्रिवेणी से इस महाधरा का आरंभ हुआ। बाद में अन्य अनेक सभ्य, अर्ध सभ्य और अल्पसभ्य जातियों की संस्कृतियाँ, धर्म-मत, आचार, परम्परा और विश्वास इसमें घुसते गये। भार – ज्योतिष, जो हमारी संस्कृति के निर्माण का एक जबर्दस्त अंग है, बहुत कुछ यवनों, बर्बरों, असुरों के विश्वास से प्रभावित है। विश्वास किया जाने लगा है कि बालगोपाल की पूजा जाटो, गूजरो और अहीरो की पूर्वज किसी धुमक्कड़ जाति सूफियों तथा अन्यान्य मुसलमानी पीरो के धर्ममत से प्रभावित हुई थी। इस युग की चित्रकला, संगीत-विद्या और नृत्यकला तो निश्चित रूप से आर्योत्तर उपदानों से समृद्ध हुई है।

द्विवेदी के अनुसार सभ्यता और संस्कृति एक ही वस्तु नहीं हैं। जहाँ हज़ारों - छोटी मोटी जातियों की सामाजिक व्यवस्था, नैतिक परम्परा, विचित्र आचार-विचार को प्रश्रय देनेवाली सभ्यता है, वहीं योग-दृष्टि या समन्वयात्मिका संस्कृति भी संभव है। भारतीय संस्कृति के प्राण में एकत्व है, उसके रक्त में सहानुभूति है।

यही कारण है कि आज इस देश में सहस्राधिक समाज एक – दूसरे को बाधा न पहुँचाते हुए भी अपनी विशेषताओं के समेत जीवित हैं। भारतीय संस्कृति ने सदा – सर्वदा समन्वय के रूप में समस्या का समाधान किया है।

‘भारतीय संस्कृति का स्वरूप’ नामक निबन्ध में द्विवेदी ने वेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जो भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। “जिस मनुष्य का चित्त निर्मल और शुद्ध होता है, उसका निर्णय उत्तम होता है। उसी को हम सुसंस्कृत मनुष्य कहते हैं।”²¹ भारतवर्ष में दीर्घकाल के दार्शनिक विचार और धार्मिक विचार आचरणों ने समस्त भारतीय मनुष्यों के चित्त में एक विशेष प्रकार के संस्कार उत्पन्न किये हैं, जिनके कारण इस देश का प्रत्येक मनुष्य जीवन मूल्यों के प्रति आसक्ति के कारण वह गलत आचरण अवश्य कर जाता है, परन्तु उसके चित्त में कोई संदेह नहीं रहता कि मूल गृहणिय कर्तव्य दूर है।

सत् और असत् की, या धर्म या अधर्म की उचित मीमंसा करने वाले विवेकी लोग भी सब समय यथोचित कर्तव्यों का पालन नहीं कर पाते। शात्रो में बताया गया है कि विवेक के साथ साथ चित्त में वैराग्य का भी उदय होना चाहिए। जब सत् और असत् का ज्ञान हो जाये तो असत् का त्याग करने की जो वृत्ति है उसको वैराग्य कहते हैं। निरन्तर अभ्यास के बाद मनुष्य मनोवृत्तियों को असत् आचरण की ओर जाने से रोक पाता है। अर्जुन ने भगवतगीता में भगवान से कहा था कि मन बड़ा चंचल है और उसका निग्रह करना उसी प्रकार कठिन है जैसे आँधी का रोकना। इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने बताया था वैराग्य और अभ्यास से इस कठिन कार्य को किया जा सकता है। द्विवेदी इन बातों को हमारी संस्कृति का सर्वस्व मानते हैं।

²¹ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 209

बंकिम चन्द्र चटर्जी के द्वारा लिखा गया 'वन्देमातरम' का भारतीय संस्कृति में प्रमुख स्थान है। द्विवेदी कहते हैं कि स्वतंत्रता संग्राम में इसका योगदान बहुत - कुछ है। भारत में, माता के रूप में शक्ति की पूजा का प्रचलन हजारों साल से है। भारतवासियों के रक्त में यह धारणा बसी हुई है कि कोई अनादि, अनन्ता, मातृरूप शक्ति है, जो निरन्तर उत्तम मानवीय गुणों की रक्षा करती है और उनके प्रतिकूल जानेवाले पशु - सुलभ आचरणों का प्रतिरोध करती जा रही है। वह संसार का सर्जन, पालन और संहार तीनों ही करती है, लेकिन मुख्य रूप से वह माँ है। अपने बच्चों के लिए उनके हृदय में अपार स्नेह भी है। यह मातृरूपा शक्ति, सदा शरणागत, आर्त और दीन जनों की रक्षा करती है, समस्त संसार की आर्ति या कष्ट का हरण करती है, और अशेष कल्याण का वितरण करती रहती है। दुर्वत असुरों के लिए वह काल - रूपिणी है, परन्तु साधू वृत्त लोगों के लिए यह स्नेहमयी माता है। इस परम्परागत विश्वासों को बंकिम बाबू ने युगानुरूप ढाल दिया। यह महिमामयी माता थी, परन्तु बाद में भारतमाता के रूप में प्रकट हुई। एक तरफ जहाँ पुराने संस्कारों और मान्यताओं के कारण इस मातृशक्ति को स्वीकार करने में देशवासियों को रंचमात्र भी द्विविधा नहीं हुई, वहीं दूसरी और साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए उस अनादि - अनन्त मातृशक्ति की प्रेरणा समझने का दृढ़ संकल्प भी प्राप्त हुआ। गायक ने देशवासियों को एक नई शक्ति दी। यह भारतमाता कमज़ोर नहीं है। जो कोटि - कोटि वीर सन्तानों की माँ हो, उसे अबला नहीं समझना चाहिए। वह निश्चित रूप से बल धारिणी है।

द्विवेदी कहते हैं कि "यह गान ने सोचने - समझनेवाले को एकदम झकझोर दिया। माता की दुर्दशा वस्तुतः पुत्रों की कमज़ोरी के कारण है। एक बार यह

कमज़ोरी हटा दी जाय तो इतनी शक्तिशाली माता संसार में और कोई हो ही नहीं सकती। 'वन्देमातरम' गान की यही शक्ति है।²² उसने सोते लोगों को जगाया, जगे हुए को ज़ोर से खड़ा होने का बल दिया। देखते – देखते सारा देश – विदेशियों के विरुद्ध कमर – कसमर खड़ा हो गया और गान के लिखे जाने के 70 वर्ष बाद पूर्ण रूप से स्वाधीन हो गया। इस मंत्रगान से हमें मालूम हुआ कि हमारा देश केवल अतीत से नहीं, वर्तमान में भी गौरवशाली बना हुआ है और बना रहेगा

'वन्देमातरम' विश्वास को प्रेरणा देता है। देश – माता के सुजला, सफला रूप का वह स्वागत करता है। माता के अजस्र बलशालिनी होने का दृढ़, विश्वास करता है। भारतीय संस्कृति का नारी रूप इस गान में व्यक्त है। स्वतंत्रता संग्राम के समय इस मंत्र ने विदेशी आक्रमणों से जूझने की प्रेरणा दी थी, लेकिन जब कि विदेशी शासन समाप्त हो गया है, तब भी इसकी उपक्षेयता बढी हुई है। निबन्धकार कहते हैं कि हमें आज भी इस मंत्र की आवश्यकता है।

'वन्देमातरम' की प्रासंगिकता को व्यक्त करते हुए द्विवेदी कहते हैं कि आज हमें स्वतंत्रता की लड़ाई से भी अधिक दृढ़ता के साथ गरीबी, अशिक्षा और कुसंस्कारों से लड़ना है। यह लड़ाई बड़ी विकट है। कई बार अपने देश के ही नाना लोग इसमें बाधा पहुँचाने आ जाते हैं, परन्तु हमें धैर्य नहीं खोना है। 'वन्देमातरम' आज भी हमें दृढ़ संकल्प के साथ नई समस्याओं से जूझने का बल देता है। आज भी हमें शिथिल अवसन्न होने की आवश्यकता नहीं है। 'वन्देमातरम' हमें निरन्तर आसूरी – वृत्तियों से संघर्ष करने का संकल्प देता है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि जब कभी

²² हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 395

हमारे जीवन में अवसाद या थिथिलता आयेगी, तभी 'वन्देमातरम' हमारे भीतर नई शक्ति पैदा करता रहेगा। हमारी साँस्कृतिक एकता को बनाये रखेगा।

'धार्मिक एकं सञ्चरित्र नारी, कुटुंब की शोभा है' निबंध, भारत में नारी के स्थान को व्यक्त करने लायक रचना है। स्त्री, परिवार का केंद्र है। भारतवर्ष में यह बात अधिक सत्य है। हमारा समाज आज भी अधिकांश में सम्मिलित परिवार – प्रथा द्वारा नियंत्रित है। स्त्री, परिवार को एक और सुनियंत्रित रखने में सबसे अधिक सहायता देती है। घर में कोई भी स्त्री यदि मर्यादा से बाहर चली जाय तो परिवार छिन्न – भिन्न हो जाता है। इसलिए स्त्री की सुशीलता और उसका धर्म सम्मत आचरण परिवार को मज़बूत और सुखी बनाने के लिए बहुत आवश्यक है। धर्म ही हमें बड़े लक्ष्य, महान आदर्श और स्वार्थजयी प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर कर सकता है। स्त्री यदि धर्म द्वारा प्रतिपादित आदर्शों से विचलित हो जाय तो पुरुष की अपेक्षा अधिक अनर्थ करती है।

भारतीय संस्कृति में स्त्रियों के स्थान पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी कहते हैं कि "स्वास्थ्य और सुसंगठित परिवार से सुन्दर और सुखी परिवार बनता है। उत्तम परिवार से ही समूचा राष्ट्र उन्नत और शक्तिशाली बनता है। देश और समाज की उत्तमता और शक्ति के मूल में स्त्रियों का धर्मसम्मत आचरण है। उसके अभाव में समाज और राष्ट्र जर्जर हो जाता है।"²³ महाभारत के अश्वमेध पर्व में बताया गया है कि धर्म, अर्थ, काम जैसे तीनों पुरुषार्थ, घर में सबकी ओर, बाहर से आये अतिथि की सेवा सुश्रुषा, परिवार के बच्चों का लालन –पालन, पितरों और घर के जीवन प्राणियों का धर्मसंगत सम्मान और सदाचार, सबकुछ गृहलक्ष्मी नारी के ऊपर निर्भर करता है। स्त्री का धर्माचरण, भविष्य की पीढ़ी को भी प्रभावित करता है। बच्चों पर

²³ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 384

उसका उत्तम प्रभाव पड़ता है। स्त्री, जो धार्मिक होना केवल वर्तमान को ही नहीं, भविष्य को भी उज्वल बनाता है।

बहुत से लोग समझते हैं कि व्रत करना या गंगा स्नान करना, कथा – पुराण सुनना या मन्दिर जाकर देवताओं का दर्शन करना ही धर्म है। द्विवेदी कहते हैं कि निश्चय ही ये बातें अच्छी हैं। लेकिन जो धर्म मनुष्य को बड़ा बनता है, उसे महान आदर्श की ओर ले जाता है और क्षुद्र चिंताओं से ऊपर उठाता है, वह इतने में ही सीमित नहीं है। स्त्रियों में प्रायः – व्रत – उपवास के पालन की प्रवृत्ति देखी जाती है। लेकिन इसका उद्देश्य स्वार्थ होता है। इससे उदार और बड़ा मन नहीं बनता। धर्म इससे कहीं बड़ी चीज़ है। समस्त विश्व के सुख – दुःख के साथ अपने सुख – दुःख की अनुभूती को मिला देना ही परम धर्म है। यहाँ द्विवेदी की समाज मंगल की भावना – जो भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है – देखने को मिलते हैं। उनके अनुसार अहिंसा ही धर्म के सार है। यह सत्य पर प्रतिष्ठित है। सच्चा धार्मिक यह विश्वास करता है कि सब कुछ परमात्मा देख रहा है। वे मन की एक – एक गति विधि के साक्षी हैं। अन्तर्यामी से कुछ भी नहीं छिपाया जा सकता। ऐसा विश्वास करनेवाले कभी गलत काम नहीं करेगा। वही वस्तुतः सच्चा धार्मिक है। वह परमात्मा में अटल विश्वास रखकर ही कर्म करता है। परिवार के केंद्र में बैठी हुई स्त्री यदि मन, कर्म और वचन से परमात्मा पर विश्वास रखती है तो वह परिवार निश्चय ही शक्तिशाली होता है, सुखी और संपन्न होता है।

भारतवर्ष की मनीषियों ने ऐसी देवियों को पूज्य माना है। 'महिला' शब्द का अर्थ ही 'पूजनीय' है। मनु ने कहा है कि जिस परिवार में ऐसी मंगलमयी नारियों की

पूजा होती है, वहीं देवताओं का निवास होता है ऐसी शील गुणान्विता नारी परिवार की कीर्ति बढ़ाती है। निबन्धकार समाज से प्रार्थना करते हैं कि सदा ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि उचित शिक्षा की व्यवस्था करके, ऐसी नारियों को समाज में अधिकाधिक परिष्कृत बनाया जाये और परम्परा से प्राप्त आदर्शों की प्रतिष्ठा बढ़ाई जाये।

द्विवेदी 'ततः किम?' नामक अपने निबन्ध में निबन्धकार आधुनिक संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य अत्भुत शक्तियों का भण्डार है। उसने अनेक त्याग और आत्मदान के बाद अपने भीतर अनेक सद्गुण का विकास किया है, वह पशु सामान्य धरातल से जो ऊपर उठ सका है, इसका कारण यह है कि उसने अपने भीतर त्याग की, तपस्या की और आत्मसंयम की बुद्धि विकसित की है। इस मर्त्यलोक को अत्भुत और अपूर्व शान्तिस्थल बनाने की क्षमता इस मनुष्य में है। इसी दृष्टि को उन दिनों मानवतावादी कहा गया था। यह सिद्धांत आधुनिक संस्कृति का मेरुदण्ड सिद्ध हुआ है। द्विवेदी कहते हैं कि अगर तुम हँस नहीं सकते, रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नहीं, पत्थर हो। इस कथन में आधुनिक मानवतावादी दृष्टि स्पष्ट हुई है।

'ततः किम' में द्विवेदी परोक्ष रूप में कहते हैं कि आज भी मनुष्य यश और मान की लिप्सा में उसी प्रकार भटक रहा है जिस प्रकार वह हजारों वर्ष पहले भटकता था। लोग कहते हैं - "इस जगत की समस्त गन्दगियों से परे कोई ऐसा परात्पर ब्रह्म है जो शाश्वत है, जो त्रिकाल में सत्य है, जो सदा सर्वदा बना रहनेवाला है। लेकिन द्विवेदी की राय में मनुष्य की मानसिक भूख भी बहुत कुछ शाश्वत ही है। युग-युग से मनुष्य ने घोषणा की है कि सीमाओं से बँधे हुए पदार्थों से पाया जानेवाला सुख क्षणिक है, उससे मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। इसको पाकर भी मनुष्य का अंतरतर मुँहजोर घोड़े की तरह भाग खड़ा होता है। सहस्रों वर्ष के मनुष्य

के इतिहास में यह सत्य नाना भावों और नाना रूपों में प्रकट हुआ है कि असीम वस्तुओं से तृप्ति नहीं होती। वास्तविक तृप्ति के लिए सीमातीत वस्तु चाहिए। वासनाओं और कामनाओं से लिस रहकर निर्गुण निर्विकार को नहीं पाया जा सकता। इस सत्य को द्विवेदी ने प्रस्तुत रचना के द्वारा आधुनिक समाज को समझाया है।

‘भारतीय साहित्य का मेरुदंड’ नामक निबन्ध में द्विवेदी ने भारतीय साहित्य की विशेषता का प्रतिपादन किया है। साँस्कृतिक दृष्टि को सामने रखकर उनका कहना है कि सारे संसार की अपेक्षा भारतीय साहित्य की अपनी कुछ विशेषतायें हैं और इन विशेषताओं का कारण भारतीय विश्वास है। यह विश्वास पुनर्जन्म और कर्मबन्धन को मानने का है। भारतीयों का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने किये का फल भोगना ही पड़ेगा। महाभारत में कहा गया है कि पूर्व सृष्टि में प्रत्येक प्राणी ने जो कुछ कर्म किया है, वह कर्म उसे पुनः सृज्यमान होता हुआ परवर्ती सृष्टि में ही प्राप्त होगा। जब तक मान नहीं होता, तब तक यह आत्मा जन्म कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। गीता में भगवान ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर, नये वस्त्र को धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर को परित्याग कर नवीं शरीर को धारण करता है। इन विश्वासों के साथ ही भारतीय संस्कृति आगे बढ़ता है।

‘तिलक का गीता दर्शन’ नामक निबन्ध में द्विवेदी ने भगवत गीता की महत्ता तथा बालगंगाधर तिलक का गीता पर विचार व्यक्त किया है। भारतीय संस्कृति में गीता दर्शन का स्थान सर्वोपरि है। द्विवेदी कहते हैं कि गीता – धर्म सर्वोपरि निर्भर और व्यापक है। वह सम है, अर्थात् वर्ण, जाति, देश, या किन्हीं अन्य भेदों के झगड़े में नहीं पड़ता, किन्तु सब लोगों को एक ही मापतोल से सद्गति देता है। वह अन्य सब धर्मों के विषय में यथोचित सहिष्णुता दिखता है। वह मान, भक्ति और कर्मयुक्त है।

वह सनातन वैदिक धर्मवृक्ष का अत्यंत मधुर तथा अमृत फल है। वैदिक धर्म में पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञों का अर्थात् केवल कर्मकाण्ड का ही अधिक महात्म्य था। परन्तु फिर उपनिषदों के ज्ञान से यह केवल कर्मकाण्ड प्रधान क्षेत्र धर्म गौण माना जाने लगा और उसी समय सांखशास्त्र का भी प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु यह ज्ञान सामान्य जनों को अगम्य था, और इसका झुकाव भी कर्म – संन्यास की ओर ही विशेष रहा करता था। इसलिए केवल औपनिषदिक धर्म से, अथवा दोनों की स्मार्त एकवाक्यता से भी सर्वसाधारण का पूरा समाधान होना संभव नहीं था। अतएव उपनिषदों के केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञान उपासना के साथ प्रेमगम्य व्यक्त उपासना के राजगृह्य का संयोग करके कर्मकाण्ड की प्राचीन परम्परा के अनुसार ही अर्जुन को निमित्त करके गीता – धर्म सब लोगों से मुक्तकंठ से यही कहता है कि ‘तुम अपनी योग्यता के अनुसार अपने –अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन लोक – संग्रह केलिए, निष्काम बुद्धि से, आत्मोपम्य दृष्टि से तथा उत्साह से जीवन करते रहो, और उसके द्वारा ऐसे नित्य – परमात्मा देवता का सदा भजन करो, जो पिण्ड – ब्रह्माण्ड में तथा समस्त प्राणियों में एकत्व से व्याप्त है। इसी में तुम्हारा सांस्कृतिक तथा पारलौकिक कल्याण है।

गीता के दूसरे अध्याय के 47 वें श्लोक के चारों चरणों को तिलक ने ‘कर्मयोग की चतुःसूत्री’ कहा है।

1. कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है।
2. फल, कभी भी तेरा अधिकार या ताबे में नहीं है।
3. इसलिए तू मेरे कर्म का अमुक फल मिले, यह हेतु रखकर काम करनेवाला न हो।

4. काम न करने का भी तू आग्रह न कर²⁴

इस प्रकार गीता में अनासक्त भाव से, कर्म फल पाने की इच्छा न रखते हुए, स्वस्वके कल्याणकार्य और सेवा – कार्य में लगे रहने की शिक्षा दी गई है जो भारतीय की अपनी संस्कृति है।

तिलक का गीतादर्शन में तिलक ने उन दिनों के नव – शिक्षित भारतवासियों में इस विश्वास की जड़ पकड़ते देखा था कि हमारे प्राचीन शास्त्रकार मोक्ष ही के गूढ़ विचारों में निमग्न हो जाने के कारण सदाचरण के या नीति – धर्म के मूल तत्वों का विवेचन करना भूल गये। इसके उत्तर के रूप में वे कहते हैं “परन्तु भगवतगीता और महाभारत पढने से यह भ्रमपूर्ण समझ दूर हो जा सकती है”¹ और गीता रहस्य को पढनेवाला निस्संदेह इस भ्रम से मुक्त हो जायेगा। हमारे पुराणों और महाभारत में वीर पुरुषों का चरित भरा पड़ा है। तिलक कहते हैं कि क्या इस इतिहास को लिखते समय उनके मन में यह विचार नहीं आया होगा कि जिन प्रसिद्ध पुरुषों का इतिहास हम लिख रहे हैं, उनके मर्म या रहस्य को ही कर्मयोग कहते हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में द्विवेदी बताते हैं कि तिलक का सारा जीवन भगवान को समर्पित था। उन्होंने लोकसेवा का जो व्रत लिया था, वह उनके इसी भागवदर्पण भाव का साक्षात् रूप था। ‘कर्म करना, जो कुछ करना, वह भगवान को समर्पित कर देना, फलाशा का त्याग करना, और सेवा – कार्य में एकान्त भाव से जुटे रहना यही कर्मयोग है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है तिलक का जीवन ।

²⁴ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 378-379

‘राष्ट्रिय एकता के प्रतिक – शिव’ नामक निबन्ध में द्विवेदी ने भगवान शिव को, भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग माना है। भारतवर्ष, साँस्कृतिक उथल –पुथल और विदेशी आक्रमणों के संकट केवल इसके ऊपरी सतह को विक्षुब्ध करते हैं। इन हलचलों के नीचे यह देश अविक्षुब्ध, अप्रतिहत भाव से एक रहा है। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक जिन बातों ने और जिन विशावासों ने इसे अविभाज्य बना रखा है, उनमें प्रमुख स्थान ‘शिव’ जैसे सर्वजनोपस्य महान देवता का है। भारतवर्ष के इतिहास का एक ऐसा कोई पन्ना नहीं है, जिसमें देवाधिदेव महादेव की महिमा नहीं लिखी हो। शिव के वर्तमान रूप में आर्यों, द्रविड़ों, किरातों और शवर – निषादों के विश्वास सम्मिलित हैं। इस देश के महान से महान तत्वदर्शी ने शिव के रूप को दार्शनिक मान्यता के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित किया है और निम्नतर स्तर के साधारण से साधारण स्त्री –पुरुष ने उसे भाव के अगाध समुद्र में स्नान कराया है। “शिव को किसी – न किसी रूप में, देश की मिट्टी के प्रत्येक कण से संबन्ध बताया गया है। हिमालय से लेकर महाशवी और रत्नाकर तक सर्वत्र वे व्याप्त हैं। भारतवर्ष की वर्तमान सीमाओं के पार भी उनका प्रभाव है। हर श्रेणी के लोगों में वे मान्य हैं।”²⁵

शिव की पूजा, उत्तर में हिमालय गिरी शृंखला से लेकर दक्षिण में कुमारिका अन्तरीय तक आबाध गति से चलती आई है। देश और काल में इतनी व्यापकता कम ही मिलेगी। शिव, सही अर्थों में राष्ट्रीय देवता है। इस महादेवता के रूप में समूचे भारतवर्ष का विश्वास मुर्तिमत्त हुआ है।

दर्शन, काव्य, मूर्ति, चित्र, वास्तु, संगीत –जो कुछ भी भारतवर्ष की श्रेष्ठ देन है, उन सब पर महादेवता का प्रभाव है। ‘शिव’ नाम, भारतवर्ष से उस सब कुछ को

²⁵ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 347

हमारे सामने खड़ा कर देता है, जो महान है, जो उदात्त है, जो ओजस्वी है, जो ज्वलन्त है, जो महिमान्वित है। इस नाम के इर्द – गिर्द भारतीय मानव मण्डली की जीवनं चेतना चक्कर मारती रहती है।

भारतीय चिन्तन की सर्वोत्तम देन अद्वैतवाद भी शिव को केंद्र करके विकसित बताया जाता है। योगशास्त्र और योग साधना का आरम्भ शैवमत से अविच्छेद्य रूप से मिला हुआ है। एक तरफ ताण्डव, लास्य, कामशास्त्र और तंत्र –मंत्र का आरंभ शिव, पार्वती, नंदिकेश्वर, और हिमालय से संबन्ध बताया गया है। इस देवता की महिमा अपर है। हमारा सारा राष्ट्र अपने सम्पूर्ण विश्वासों के साथ इस नाम से जुड़ा हुआ है। शिव शब्द के साथ हमारे राष्ट्र का इतिहास निरन्तर जुड़ा रहता है। यह देवता सब प्रकार से हमारी राष्ट्रिय एकता का उत्तम प्रतिक है।

‘हिन्दू संस्कृति के अध्ययन के उपादान’ नामक निबन्ध में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के, हिन्दू संस्कृति के प्रति उनका दृष्टिकोण व्यक्त रूप से दिखाई देता है। पुराणोंमें और महाभारत में आर्यों, असुरों, दासों, दैत्यों, नागों आदि के अनेक विवाह-संबन्धों का उल्लेख है। इन मिस्रणों का परिणाम यह हुआ कि अनेक रीति – निती, धर्म –विश्वास, संस्कार-विकार एक दूसरे को प्रभावित करते रहे। इन्हीं नाना जातियों के नाना आचार-विचारों, विश्वासों का सम्मिलित रूप हिन्दू संस्कृति है। यह विशुद्ध आर्य संस्कृति नहीं है, विशुद्ध आर्योंतर संस्कृति नहीं है। दीर्घकाल के संघर्ष और मिलन, आदान और प्रदान, ग्रहण और त्याग के फलस्वरूप यह संस्कृति बनी है।

अपने निबंध में द्विवेदी समर्थन करते हैं कि अत्यंत प्राचीन काल में ‘अशुर’ असीरीया देश का एक प्रसिद्ध नगर था। बाद में वह जाति का ही वाहक हो गया। ये लोग बड़े पराक्रमी थे। इन्होंने अपने इर्द – गिर्द के देशों में पूरा आतंक फैला दिया था।

मिश्र, बाबुल, इरान तथा भारत के प्राचीन इतिहास में इनका उल्लेख मिलता है। इन्होंने मिश्र और बैबिलोनिया की संस्कृति को आत्मसात कर लिया था। आर्यों के आने के पहले से ही ये जातियाँ समुद्री मार्ग से सिद्ध की और आती थी और नदी मार्ग से उत्तर पश्चिम और मध्यदेश की ओर बढ़ जाती थी। प्रधानतः ये व्यवसायी थे और राज्य स्थापना का इनका प्रधान उद्देश्य व्यापार ही रहा होगा। नदी मार्ग से ऊपर को उठते हुए जिन लोगों को वर्णन है, वे शायद असुर ही थे। ईरान के अधिवासियों ने इनके राज्य पर अधिकार कर लिया। सन ईसवी के लगभग 1000 वर्ष पहले फिर असुर सभ्यता ने नये सर में सर उठा। इस समय पुराने 'अशुर' शहर में अशुर देवता का मन्दिर स्थापित किया। अशुर देवता ही राज्य के संरक्षक माने गये और राजा उनके पूजारी के रूप में राज्य-भार संभाले गये।

भारतीय संस्कृति में 'प्राचीन ज्योतिष' का प्रमुख स्थान है। हमारी सभ्यता के प्रधान उत्स वेद है। आज के भारत वर्ष को बनाने में अनेक साँस्कृतिक धाराएँ काम करती रही हैं जिनका मुख्य धारा वैदिक है। वैदिक सभ्यता के केन्द्र में यज्ञ-याग है। ये यज्ञ-याग ही इस देश में ज्योतिष के अध्ययन के मूल कारण हैं। यज्ञ की वेदियों के निर्माण के लिए ही शुल्व सूत्रों की विद्या ज्योमिती शास्त्र का उदय हुआ, जो धीरे-धीरे संसार भर की संस्कृति को गति देने में कारण बनी।

भारतीय ज्योतिष, संसार की संपूर्ण मानव सभ्यता के मूल में है। यज्ञों के शुभाशुभ फलों की जानकारी की दृष्टि से ही उस शकुन शास्त्र और प्रकृति निरीक्षण विद्या का सूत्रपात हुआ, जो आज परिणत अवस्था के अनेक शास्त्रों के बीज है। निस्संदेह मनुष्य की सभ्यता की अग्रगति के मूल में हमारे देश के मनीषियों के ये बड़े अविष्कार हैं।

प्राचीनकाल में ज्योतिष का क्षेत्र बहुत व्यापक था। कहीं जाना हो, कोई दवा खानी हो, कोई कपडा पहनना हो, कोई खरीद-बिक्री की बात हो, ज्योतिषी की सलाह आवश्यक होगी। जन्म हो, मरण हो, विवाह हो, ज्योतिष उसमें ज़रूर दखल देगा। व्रत हो, उपवास हो, ज्योतिष के बिना हो नहीं सकता।

ज्योतिषी, लक्षण बताने में चतुर थे। उदहारण के लिए हाथी, सूँड उठाकर वेग से चल पड़े तो जीत निश्चय मानी जाती थी। हाथी, अगर पृथ्वी पर हाथ रख दे, आँखे बंद कर ले और कान बड़ा कर ले तो प्रश्न संकीर्ण होता है।

द्विवेदी कहते हैं कि हमारी संस्कृति को विश्व संस्कृति बनाने में ज्योतिष अत्भुत सहायता पहुँचाई है। उसने मनुष्य को आगे बढ़ने का साधन प्रस्तुत किया है, मिलन का क्षेत्र तैयार किया है, और मनुष्य की उच्च तर वृत्तियों के प्रति हमारी आस्था को दृढ़ किया है।

भारतीय विचारधारा के विकास में ज्योतिष शास्त्र के विविध अंगों की देन बहुत अधिक है। अनेक भारतीय कलाओं के प्रवर्तन के मूल में मांगल्य भावना रही है, और इस भावना को ज्योतिष ने निरंतर पुष्ट किया है। जगत के समस्त पदार्थ और व्यापारों का हेतु और फल यह शास्त्र बताया करता था और पदार्थों और व्यापारों के मिलन से उत्पन्न होनेवाली संभावनाओं का भी आदेश करता था, इसीलिए उसने संपूर्ण भारतीय जीवन को निविड़ भाव से प्रभावित किया है।

'ज्योतिर्विज्ञान' निबंध में भी ज्योतिर्विज्ञान के महत्व पर द्विवेदी प्रकाश डालते हैं। भारतीय विधाओं में ज्योतिर्विज्ञान का स्थान महत्वपूर्ण है। किस ऋतू में, किस तिथि में, कौन-कौन सा यज्ञ-याग होगा इसका निर्णय करना ज्योतिष शास्त्र का काम है। इसीलिए बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष में इस विद्या के प्रति बड़ा आदर है। इस विद्या में भारत बहुत समृद्ध थे। भारत की प्रतिभा ने ही दशमलव पद्धति या

डेसीमल सिस्टम का आविष्कार किया था। अरबियों ने इसे भारतवर्ष से ही सीखा था। भारत में इनकी जड़े मजबूत और गहरी हैं। भारतीय ज्योतिषी अंक गणित, बीज गणित, त्रिकोणमिति आदि शास्त्रों में अपने युग के संसार के अन्य वैज्ञानिक की तुलना में अग्रणी रहे। उन्होंने संसार के सभ्य देशों से लिया भी है और दिया भी है।

‘भारतीय फलित ज्योतिष’ नामक निबंध का विषय भी यही है। प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी लिखते हैं कि वर्ष में ज्योतिष के अध्ययन का कारण याग-यज्ञ है। वैदिक आर्य याग-यज्ञ के प्रेमी थे। विशेष-विशेष यज्ञों के लिए समय का निर्णय करना नितांत प्रयोजनीय था। काल का निर्णय करने के लिए ज्योतिष विद्या के सिवा दुसरे रास्ता नहीं था।

“भारत के आदियुग में यह विश्वास बिलकुल ही नहीं था कि मनुष्य के भाग्य का नियंत्रण कोई आकाशचारी गृह या नक्षत्र कर रहा है। अपने कर्मों का फल ही हम भोगता है, ऐसा विचार था।”²⁶ ब्राह्मण और उपनिषदों के बाद के युग में यह बात भी विश्वास की जाने लगी कि आकाश में चलनेवाले गृह नक्षत्र भी मनुष्य के शुभाशुभ भाग्य के कारण हैं। ज्योतिष का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है ‘शकुन शास्त्र’। शकुन कुछ शुभ होते हैं और कुछ अशुभ।

भारत की एकता को स्वागत करते हुए द्विवेदी ने ‘स्वागत’ नामक निबंध की रचना की है। वे कहते हैं कि हम में बहुत भारी एकता है। हम जैसे एक ही उद्यान के विचित्र पुष्प हैं, जिनमें रूप, वर्ण, गंध की मोहकता अलग-अलग और विशिष्ट होने पर भी एक ही धरती की उर्वरा शक्ति की देन है। यह साँस्कृतिक समारोह उसी उर्वरा को स्मरण कराता है। बुद्ध देव और बौद्ध धर्म ने हमारे देश में साँस्कृतिक एकता का निर्माण किया है, पर उसके साथ ही रामायण और महाभारत ने उसे सुदृढ़

²⁶ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रंथावली खण्ड 9, पृ: 135

किया है और रसमय बनाया है। संस्कृति की परिभाषा द्विवेदी के शब्दों में इस प्रकार है – ‘मनुष्य का जो कुछ उत्तम है, धर्म में आचरण में, भावना में, सौन्दर्य बोध में उसका पूर्ण रूप ही संस्कृति है। हम अलग राष्ट्र हैं। हमारा अलग राष्ट्रीय व्यक्तित्व है, परंतु हमारी जनता की नाडी में एक ही प्रकार का सांस्कृतिक रक्त बह रहा है। इस सांस्कृतिक एकता का सबसे बड़ा आधार बौद्ध धर्म है। बुद्ध के प्रेम, करुणा, मैत्री और भ्रात्र भाव के सन्देश ने इन महान राष्ट्रों को प्रेरणा ही है। हमारे राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता की पहचान प्रस्तुत निबंध के द्वारा हमें मिलते हैं।

III हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में मिथक

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने मानवता की प्रतिष्ठा के लिए अपनी रचनाओं का सृजन किया है। इन रचनाओं में अपने उद्देश की पूर्ति के लिए मिथकों का समावेश भी उन्होंने किया है। मिथक के जो प्रमुख तत्व हैं जैसे प्राकृतिक तत्व, अनुष्ठान, ऐतिहासिक घटनाएं, नैतिक चेतना, जिज्ञासावृत्ति, कल्पनाशीलता आदि के आधार पर उनके निबंधों का विश्लेषण आगे किया गया है।

मिथक की दृष्टि से ‘देवदारु’ एक सफल निबंध है। देवदारु में कई प्रकार की विशेषताएँ हैं। कोई उसे स्वीकार करता है, कोई नहीं स्वीकार करता है। देवदारु, मात्र नाम ही नहीं है, यह देवताओं का वृक्ष है। किसी को लगा होगा कि इस वृक्ष में देवताओं का गुण भी है। गाँवों में भूतों को लेकर कई तरह की धारणाएँ हैं। कुछ भूत पर विश्वास रखते हैं, कुछ इसे भ्रम मात्र समझते हैं। यह गाँव की भ्रांति है। लेकिन गाँववाले इसे सच मानते हैं। लेकिन शिक्षित वर्ग इसे स्वीकार नहीं करते हैं। द्विवेदी कहते हैं कि बचपन में अपने गाँव में भूत की बात मैंने सुनी है। भूत को देखा भी है। ‘भूत लगना’ मन का विकल्प है। आँखों की भ्रांति है। बिहारी ने कहा था कि आँखे ही

औरों को देखती है। नायक-नायिका एक-दूसरे को आँखों के द्वारा देखता हैं वे आपस में बंध जाता है। मन का यह 'लगना' कभी-कभी आँखों के द्वारा ही होता है। मन की भ्रांति का कारण हमारी आँखें है।

द्विवेदी अपने इस निबंध में गाँव पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि उसके गाँव में एक पण्डित थे। अस्पष्ट रूप से वह मंत्र जपते थे। लोग समझते थे कि वे ज्ञानी और पण्डित हैं। भूत को भगाने में वे समर्थ थे। यह विद्या के बल से नहीं थे, बल्कि अपने अस्पष्ट वाणी के बल से थे। तेज़ी से बोलने की क्षमता के कारण विपक्षी को कुछ भी समझ में नहीं आता था। गाँव वालों पर कभी-कभी संदेह होता था कि यह वास्तविक पण्डित है या नहीं। दूसरों को किसी-न-किसी प्रकार हराकर ख्याति प्राप्त करना उनका लक्ष्य था। गायत्री मंत्र भी अस्पष्ट रूप से जपता था। भूतों को भगाने के लिए वह देवदारु का लकड़ी पास रखता था। एक दिन वह कहीं से आ रहा था। उस समय किसी ने उस पर पत्थर फेंक दिया। पंडितजी ने सोचा कि यह भूत है। उसने जूता उतार दिया और गायत्री मंत्र जपकर देवदारु के लकड़ी को सामने दिखाया। (गायत्री मंत्र जपते समय जूता नहीं पहनना है) देवदारु के सहारे वे अपने को भूत से बचा लिया। वे ब्राह्मण थे, इसलिए वे भूत को मारे बिना छोड़ा होगा। यहाँ काल्पनिक कथा के माध्यम से द्विवेदी ने देवदारु के महत्व पर प्रकाश डाला है।

आज देवदारु वृक्ष के नीचे बैठते समय उन्हें ऐसा लगता है कि अनेक भूतों को एक साथ भगाने की शक्ति देवदारु में है। वे देवदारु के महत्व को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं। बचपन से ही उसके मन में इस वृक्ष के प्रति भक्ति का भाव था। अपने महत्व के कारण ही यह वृक्ष देवताओं का वृक्ष हुआ है और शिव का समाधि स्थान बन गया है। द्विवेदी कहते हैं कि पुराने समय की बातों को वर्तमान जनता स्वीकार नहीं करते है, इसलिए ही पंडितजी की कहानी पर वे विश्वास नहीं रखेंगे।

द्विवेदी के अनुसार यह वृक्ष बहुत सुन्दर भी है। जो वस्तु अपने मन को रमाती है, वही वस्तु सुन्दर है। इस दृष्टि से देवदारु अपने गुण के कारण सुन्दर है। देवदारु लंबा है और वह ऊपर की ओर अपना मस्तक लिए खड़ा करता है। देवदारु के ऊर्ध्व शिखा का सौन्दर्य शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह इतना लंबा वृक्ष होते हुए भी जड़ों को नीचे तक ले जाता है। अपने अस्तित्व को बनाए रखते हुए वह ऊपर की ओर जाता है। सबसे ऊपर इसकी शाखाएं व्याप्त हैं। यह देखकर ऐसा लगता है कि कोई संकेत दे रहा है।

मानव, युग के अनुसार बदल जाता है। लेकिन देवदारु में काल के अनुसार परिवर्तन नहीं होता है। समाज में आनेवाले परिवर्तनों को ठीक तरह से वह समझता है। द्विवेदी कहते हैं कि दूसरों के मतानुसार जीना वह पसंद नहीं करता है, अपने व्यक्तित्व को लेकर जीने का जो मानव धर्म है उसे अपनाते हुए ही वह आगे बढ़ता है।

निबंध के विश्लेषण से पता चलता है कि अनेक मिथकों के माध्यम से निबंधकार ने देवदारु की कल्पना की है। यह देवताओं का वृक्ष है। देवतायें, भूत, महादेव आदि मिथक तत्वों के माध्यम से द्विवेदी ने इस वृक्ष के महत्व पर प्रकाश डाला है। यह वृक्ष कालिदास के समय के पहले यहाँ थी और इसकी ऐतिहासिक प्रधानता भी प्रस्तुत निबंध में देखा जा सकता है। वर्तमान मानव तथा वर्तमान साहित्य पर प्रकाश डालते समय (कभी-कभी व्यंग्य रूप में) द्विवेदी ने देवदारु को मिथक के रूप में चित्रित किया है। देवदारु स्वाभिमानी है। वह दूसरों के सामने सिर झुकाना नहीं चाहती है। वह अपने व्यक्तित्व को आगे बढ़ाते हुए, दार्शनिक की भांति स्थित है।

‘कुटज’ नामक निबंध में ‘कुटज’ नाम ही मिथक मालूम होता है। इसकी गरीमा का वर्णन करते हुए निबंधकार कहते हैं कि चारों ओर कुपित यमराज के

दारुण निश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी। यहाँ यमराज मिथक पात्र है जो हिन्दू पुराण में देखा जा सकता है। मिथक कहानी के आधार पर भारतीयों ने अब भी इस विश्वास को अटल कर दिया है कि मृत्यु के बाद यमराज हमें नरक ले जाएगा और हमारे पाप कर्मों के उचित सजा भी मिलेगी।

रामायण का प्रमुख पात्र जनक जो सीता के पिता है, उसे मिथक के रूप में चित्रित किया है। जो अपने मन को वश में कर लेने में सक्षम है, वह जनक के समान है। कुटज भी ऐसा एक वृक्ष है जो मन को अपने पर सवार नहीं होने देता।

मिथकीय संकल्पों से 'अशोक के फूल' निबंध में थोड़ी-सी रहस्यात्मकता आ गई है। इसमें ब्रह्म, विष्णु तथा शिव की बात बताई गई है, ब्रह्मा सृष्टिकर्ता है, विष्णु परिपालक है और शिव संहारक मूर्ति है। यह संकल्प हिन्दू पुराणों में बताया गया है जो बिलकुल मिथक है।

'दीपावली – सामाजिक मंगलेच्छा का प्रतिमा पर्व' नामक निबंध में दीपावली उत्सव यह सन्देश लेकर आ रही है कि मनुष्य अनेक प्रतीक्षाओं के साथ और इच्छाओं के साथ जन्म लेता है, लेकिन ये नश्वर है। स्वार्थता के पथ पर चलनेवाले आधुनिक जनता भौतिक जीवन की नश्वरता पर बल देते हैं। सामाजिक प्रयत्न और विश्वास ही यहाँ हमेशा अनश्वर होता है।

'वर्षा – घनपति से घनश्याम तक' निबंध में निबंधकार ने जो पार्जन्य देवता तथा इंद्र की बात कही है ये पात्र बिलकुल मिथक है। द्विवेदी लिखते हैं कि वैदिक ऋषियों ने मेघों के शक्तिशाली और औढरदानी रूप का यशोगान उल्लसित कंठ से किया है। पार्जन्य देवता के वज्र निनाद, विद्युत्लोक और धरासार वर्षा में शक्तिशाली महारथी का रूप स्पष्ट हो उठता है।

वैदिक ऋषि, मेघों के अधीश्वर इंद्र को पौरुष और औदार्य का पूर्ण रूप मानता है। दीर्घकाल तक इंद्र देवता अपने शक्तिशाली वज्र और विद्युत के कारण तथा औषधियों का सेवन करनेवाले महान गुण के कारण श्रद्धा और भक्ति पाते रहे हैं।

ठण्डी हवा के लिए वात्मीकी का कहना है कि मेघ के पेट से निकली हुई, कमल कङ्कार के स्पर्श से शीतल बनी हुई और केतकी पुष्पों की सुगन्धी से आमोदित वायु अंजुली से पी ली जा सकती है।

उसी प्रकार वर्षाकाल का वर्णन आदिकवि ने विरही राम के मुख से कराया है, इसलिए कभी-कभी राम के –व्याकुल चित्त की प्रतिध्वनि के रूप में, मेघ में कामार्त पुरुष और वाष्पवती विरहिणी की चर्चा अवश्य आ जाती है। वैदिक ऋषि की भांति आदिकवि ने भी बिजली को सुनहले कोड़े के रूप में देखा है। इस सुनहले कोड़े के कशाघात से ताडित मेघावृत आकाश, भीतर ही भीतर, मानो घोड़े की भांति गुराता हुआ चित्रित किया गया है।

प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी ने जो कृष्ण-गोपियों के बीच का चित्रण किया है वह वास्तव में पुरुष-प्रकृति आकर्षण का प्रतीक है।

कालिदास ने 'मेघदूत' में मेघ को, इंद्र देवता व प्रकृति-पुरुष या प्रजावर्ग से संपर्क स्थापित करनेवाला 'राजपुरुष' कहा गया है। वहाँ मेघ गंभीर विश्वास परायण मित्र के रूप में आया है। उसमें सहानुभूति है, समझ है, हितकांक्षा है। संस्कृत काव्य में 'मेघ' काम-नृपति का अनुचर बन गया है।

मिथकों का समावेश कहीं-कहीं 'प्राचीन भारत में मदनोत्सव' में विद्यमान है। मालविकाग्निमित्र से पता चलता है कि मदन देवता की पूजा के बाद ही अशोक में फूल खिला देने का अनुष्ठान होता था। कोई सुन्दरी सर्वा भरण विभूषिता होकर, पैरों को अलक्त कराग से रंजित करके, नूपुर सहित बाये चरण से अशोक वृक्ष पर

आघात करती थी और इतने में फूल उठने लगते थे। यह अनुष्ठान में मिथक तत्व निहित है।

प्रस्तुत निबंध में किउपिद नामक देवता का उल्लेख हुआ है, जो अँधा माना गया है क्योंकि वह विवेक को नष्ट करता है, मनुष्य को अन्धा बनाता है। वास्तव में यह पात्र मिथक है। विवेकशून्य मनुष्य के प्रतीक के रूप में निबंधकार ने इस देवता को चित्रित किया है।

‘घर जोड़ने की माया’ निबंध पूर्ण रूप से मिथक है। भारतीय समाज और संस्कृति के निर्माण में धर्म ने मुख्य तत्व के रूप में अपनी भूमिका निभाई है। इसलिए विभिन्न आचार्य, चिन्तकों अथवा विद्वानों ने इसके स्वरूप का निर्धारण करते हुए समय-समय पर अनेक शास्त्रों का निर्माण किया। उनके द्वारा विद्वानों ने एक ओर तो मनुष्य जीवन के उत्थान में धर्म के महत्व को स्थापित करने का प्रयास किया, दूसरी ओर अनेक प्रकार के विधि-निषेधों द्वारा मनुष्य जीवन को बँधने अथवा व्यवस्थित करने का भी संकल्प किया। परन्तु इतने महत् कार्य के साथ-साथ शास्त्रों ने अपने रचयिताओं के श्रष्टात्वाभिमान से ग्रस्त होकर समाज को वर्ण और जाति के नाम पर विभाजित करने में भी अपनी भूमिका निभाई। फलतः उनकी इस प्रवृत्ति से आहत होकर समाज का बहुपक्ष शास्त्रवाद की प्रतिबन्धिता में ‘लोक’ के रूप में खड़ा हुआ और उसने धर्म और अध्यात्म की नवीन व्याख्या के रूप में नये संप्रदायों को खड़ा किया, जिन्होंने धर्म के क्षेत्र में तो अपने उदारवादी विचारधारा को स्थापित किया ही, साथ ही उन समस्त धार्मिक वा सामाजिक बाह्याचारों, मिथ्याडंबरों तथा गली-सड़ी रुढ़ियों का प्रतिरोध किया जिन्हें शास्त्रों ने मान्यता दी थी। इस प्रकार धार्मिक संप्रदायों के इतिहास में क्रिया-प्रतिक्रिया की विचित्र परंपरा ने जन्म लिया। महात्मा बुद्ध ने वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया में इसी प्रकार का प्रयास किया था। नाथों और संतों में गोरखनाथ, कबीर, रविदास, गुरुनानक आदि ने भी अपने समय में इसी

प्रयास को दोहराया। इस महान संतों व गुरुओं ने सही मायनों में लोक का प्रतिनिधित्व करते हुए धर्म को समस्त पाखंडों से मुक्त करके सर्व-सामान्य के लिए उपलब्ध करवाया था। परिणाम स्वरूप अपनी अद्वितीय प्रतिभा तथा संतजनोचित व्यक्तित्व द्वारा धीरे-धीरे इन्होंने लोक के हृदय में इस प्रकार स्थान ग्रहण कर लिया कि समाज में इनके आदर्शों के नाम पर नए संप्रदायों का तो उदय हुआ ही साथ ही सामान्य जन के लिए ये कहीं देवता स्वरूप भी बन गए। अपने अनुयायियों के लिए यदि यह संत मात्र श्रद्धा के बने रहते तो उसमें कुछ अनुचित नहीं था, परंतु विचित्र बात यह थी कि उक्त संतों ने जिन आडंबरों का जीवन-भर विरोध किया, उनके अनुयायियों ने उन्हीं आडंबरों को अपने 'गुरुओं' की उपासना के रूप में पुनः स्थापित कर दिया। यह उनकी कौन-सी मानसिकता का परिणाम था कि अपने गुरुओं के लिए पूर्णतः श्रद्धा भाव रखते हुए भी ये लोग कहीं उनके आदर्शों के प्रतिकूल व्यवहार करने लगे थे, प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी ने उसी को पकड़ने तथा व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

द्विवेदी ने प्रस्तुत निबंध के माध्यम से उन लोगों तथा उन संप्रदायों पर व्यंग्य किया है, जो आज अपने वास्तविक लक्ष्य से च्युत होकर, अनाचार, व्यभिचार या आडंबरों के प्रतीक बन गए हैं। लेखक के अनुसार वस्तुतः घर जोड़ने की माया इतनी प्रबल है कि बड़े-बड़े स्वामी और साधू भी इसके चंगुल में फँस जाते हैं। "कबीर ने अपनी अनुयायियों से जो 'घर फूँककर' पीछे आने की अपेक्षा की थी, वह इसलिए कि कबीर को मालूम था कि यह घर 'माया का भण्डार' है।"²⁷ इसमें संबंधों का मोह, धन-संग्रह का मोह, यश और सम्मान का मोह, प्रशंसा का मोह, चेलों चपटों से सेवा करवाने का मोह, अपने नाम पर चलने वाले मठों अथवा ट्रस्टों के निर्माण का मोह, हर प्रकार की भौतिक सुख-सुविधा भोगने का मोह निरंतर व्यक्ति को अपनी ओर

²⁷ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 104

आकर्षित करता रहता है। शायद इसलिए कबीर ने अपने पीछे आनेवाले के लिए यह शर्त रखी थी कि 'जो घर फूँके अपना सो चले हमारे साथ'। परंतु द्विवेदी का समय बदल चुका है। आज कबीर जैसे अखण्ड, फक्कड़, मस्त-मौला के अनुयायी गाड़ियों की सैर करते हैं, वातानुकूलित कक्षों में निवास करते हैं, अपने शिष्यों की भीड़ में स्वयं को भगवान के अवतार-का-सा-अनुभव करते हैं। शंकराचार्य को, जिसे सबकुछ माया ही प्रतीत हुआ था, आज उसके नामधारी चाँदी के आसन के बिना बैठ नहीं पाते। यही वह 'घर जोड़ने की माया' है, जो इसी भी धर्मगुरु के मूल सिद्धांतों के विपरीत उसको स्थापित करती है और धीरे-धीरे संप्रदाय बनाकर मंदिरों में प्रवेश करवा देती है और उसके अनुयायियों को पीढियों तक बैठकर खाने और मौज-मस्ती करने का सामान उपलब्ध करवा देती है। प्रस्तुत निबंध में लेखक इसी माया का संकेत करते हुए इससे ग्रस्त लोगों पर व्यंग्य करते हैं। परोक्षतः लेखक उन लोगों को प्रताड़ित करना चाहते हैं जो किसी भी संप्रदाय के श्रेष्ठ सिद्धांतों की अपने स्वार्थ तथा माया के प्रति अपने मोह के कारण धजियाँ उड़ाने लगते हैं। लेखक चाहता है कि यदि ऐसे लोग संप्रदाय विशेष में दक्ष होकर भी माया से मुक्त नहीं हो पाए, तो उनका संप्रदाय विशेष का अनुयायी बनना मात्र ढोंग है। ऐसे लोगो को पहले माया को काटने का ही प्रयास करना चाहिए। कदाचित्त इसलिए लेखक इसी निबंध में बताता है कि ऐसा नहीं है कि इस माया से मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। लेखक की दृष्टि में निर्लिप्त भाव से कर्तव्य-पालन ही शायद इसका एकमात्र उपाय है, परंतु उसके लिए स्वयं को माया से निर्लिप्त करना होगा, अर्थात् किसी संप्रदाय के अनुयायी बनकर भले ही जीवन को व्यवस्थित रूप से चलाने-भर का उपाय हो जाए, परंतु उसके प्रति हम आसक्त न हो और न ही उसे हम अपनी कमज़ोरी बनाये। उसी हाल में घर जोड़ने की माया अपना रचनात्मक पक्ष प्रस्तुत कर सकती है।

(अपना घर पहले फूँक दे) – कबीरदास

घर फूँकने का अर्थ धन और मान का त्याग देना, भूत और भविष्य की चिंता छोड़ देना और सत्य के सामने सीधे खड़े होने में जो कुछ भी बाधा हो उसे ध्वंस कर देना है। इस दृष्टि में प्रस्तुत निबंध का नाम ही मिथक है।

‘आम फिर बौरा गए’ निबंध में मिथक का समावेश भी इसमें हुआ है। कालिदास के ‘विक्रमोर्वशीय’ नाटक में राजा ने विरहातुर अवस्था में कहा है कि वैसे ही तो दुर्लभ वस्तुओं के लिए मचल पड़नेवाला पञ्चबाण, मेरे चित्त को छलनी किये डालता है, अब मलय-पवन से आन्दोलित इन आम्रवृक्षों ने अंकुर दिखा दिये। प्रस्तुत प्रसंग में कामदेव के लिए पञ्च बाण कहा गया है, यह बिलकुल मिथक है। इस प्रकार पुराण में कई तरह के मिथक हैं। पुराणों में लिखा है कि कामदेवता, श्रीकृष्ण के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुए थे। कामदेव, प्रद्युम्न के रूप में पैदा हुए और शम्बर नामक मायावी असुर उन्हें ले गया और समुद्र में फेंक दिया। मछली उन्हें खा गई। संयोगवश वही मछली शम्बर की भोजनशाला में गई और बालक फिर उसके पेट से निकला। कामदेवता की पत्नी रतीदेवी वहाँ पहले से ही मौजूद थी। नारद मुनि भी वहाँ पहुँच गये। रति को सारी बातें उन्हीं से मालूम हुई। प्रद्युम्न पाले गये। शम्बर मारा गया, श्रीकृष्ण के घर में पुत्र ही नहीं, पुत्र-वधु भी पहुँच गई। महाभारत की यह कथा मिथक है।

‘वसन्त आ गया है’ निबंध में द्विवेदी कहते हैं कि वसन्त का आना कोई नई बात नहीं है। प्रकृति का नियम है परिवर्तन। उसी परिवर्तन के अंतर्गत यदि पतझर आता है तो वसन्त भी आएगा ही। द्विवेदी शांतिनिरुतन में रहते हुए स्थान-स्थान पर लगे विभिन्न वृक्षों व पौधों को देखते हुए उनका परिक्षण कर रहे हैं कि इनमें से कौन-सा वृक्ष अथवा पौधा प्रकृति की उस आहत को सुन रहा है। यह स्पष्ट संकेत कर रहा है कि ऋतुओं के राजा वसन्त अपनी पूरी शान के साथ आ रहा है, परन्तु परोक्षतः वह वसन्त के भीतर के उस रहस्य को समझने का प्रयास कर रहा है,

जिससे यह मालूम हो सके कि उसमें उमंग और मुस्कराहट के स्रोत कहाँ छिपा है? लेखक का जिज्ञासु मन देखता है कि बहुत से वृक्ष ऐसे हैं जिन्हें वसन्त के आगमन की या तो सूचना ही नहीं मिली या उनके भीतर का आलस्य उन्हें वसन्त का स्वागत करने के लिए तैयार ही नहीं कर रहा।

ईश्वर ने चेतन जगत को दो भागों में बंटा दिया है जीव और प्रकृति। जीवों का फिर से दो भाग मिलते हैं मानुष और पशु। उसी प्रकार प्रकृति के दो हिस्से हैं जड़ और चेतन। पौधा का अंकुरित होना, बढ़ना, फूलना और महकना चेतन प्रकृति में आता है। पतझड़ और वसंत मनुष्य को यह पाठ सिखाता है कि मनुष्य जीवन में समय एक-सा नहीं रहता। कभी पतझड़ की भांति सबकुछ नष्ट हो जाता है, कभी खुशी से मन, वसन्त बन जाता है। इस प्रकार प्रकृति, मनुष्य को परोक्षतः जीवन के अर्थ समझाने का दायित्वपूर्ण कार्य करती है। प्रस्तुत निबंध में भी महूआ और कर्णिकार तो परोक्षतः इसी बात का प्रतीक हैं कि कठिन परीक्षाओं में से निकलने के बाद ही व्यक्ति स्वर्ण से कुंदन बनता है। सौन्दर्य की कसौटी ताप होता है। भले ही कर्णिकार पर वसन्त के लक्षण जेठ के महीने तक दिखलाई देने लगते हैं, परन्तु फिर भी कालिदास को वह इसलिए प्रिय रहा है कि जीवन के कठिन संघर्षों में से निकलकर ही खिलता है। जेठ के महीने में जब सारी प्रकृति आग में झुलसती है, तब कर्णिकार पर वसन्त का सौन्दर्य आता है और वह उन विपरीत परिस्थितियों में मुस्कराते हुए मनुष्य को भी अपने भीतर उसी प्रकार की इच्छाशक्ति को विकसित करने की प्रेरणा देता है। इसलिए ही वह कालिदास जैसे महान कवि का सम्मान पाता है।

प्रकृति में कुछ ऐसे पौधे भी हैं, जो विपरीत परिस्थिति में भी रसमय होकर दिखाई देता है। 'अमरुद' इसी प्रकार का पौधा है। किसी योगी की तरह यह बारह मास तक ऐसा ही बना रहता है। न विपरीत से दुखी और अनुकूल से खुश। नीम भी

ऐसा एक वृक्ष है। इसकी रसयुक्त शाखायें उसके भीतर की जीवनी शक्ति तथा सुखद भविष्य की आशा का स्पष्ट संकेत दे रही है। पलाश भी अपने भीतर की उमंग से ही जान पाता है कि वसन्त आ गया है, तभी वह ऐसा फूलता है कि सामान्य व्यक्ति भी उसे देखकर ईर्ष्यालू हो जाये।

द्विवेदी का विश्वास है कि वसन्त का संबंध न तो वृक्ष के आकार से है और न ही उसके स्वास्थ्य से। वसन्त, व्यक्तिगत अनुभूति की चीज़ है। भीतर की उमंग की अनुभूति ही उसे जन्म देती है। जिस प्रकार व्यक्ति खुशी में चहक उठता है उसी प्रकार प्रकृति के भीतर का आनंद वसन्त के रूप में प्रकट होता है। प्रस्तुत निबंध में निबंधकार यह स्थापित करना चाहता है कि वास्तव में उमंग अथवा उल्लास से भी अधिक महत्वपूर्ण चीज़ होती है मनुष्य की इच्छाशक्ति। हमारी जिजीविषा ही हमें अवरोधों से टकराने के लिए और जीवन की कटुताओं से ऊपर उठकर निरन्तर गतिशील बनने के लिए प्रेरित करती है। इसलिए द्विवेदी स्वीकार करते हैं कि वसन्त आता नहीं, ले आया जाता है। जो चाहे जब चाहे अपने पर ले आ सकता है। जिस प्रकार यह नियम पेड़-पौधों पर लागू होता है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी इसी का महत्व है। अतः हमें अपने भीतर भी इसी इच्छा शक्ति का विकास करना चाहिए।

द्विवेदी के लिए प्रकृति मात्र कल्पना विलास का साधन नहीं है, उनकी दृष्टि में वह मानव की चिर-सहचरी है। अनन्तकाल से ही मनुष्य ने प्रकृति की गोद में पला पड़ा है। प्रकृति ने ही मानव में आस्था एवं विकास पैदा किया है। प्रकृति से मानव ने सेवा और कर्तव्यपरायणता का पाठ सीखा है। प्रकृति से ही उसने उदारता, सहिष्णुता, सहृदयता, सरसता, परदुःखकातरता, जिजीविषा आदि अनेक भावों को ग्रहण किया है। इसी प्रकृति से मनुष्य ने जीने की कला और संघर्षों से टकराने का आत्मविश्वास सीखा है। प्रकृति मनुष्य के लिए सदा प्रेरणादायी रही है। इस प्रकार मिथकीय दृष्टि से यह निबंध सफल सिद्ध होता है।

‘भारतीय संस्कृति की देन’ में तैत्तरीय उपनिषद की भृगुवल्ली में वरुण के पुत्र भृगु की मनोरंजक कथा दी हुई है जो बिलकुल मिथक है। भृगु ने जाकर वरुण से कहा था कि भगवान, मैं ब्रह्म को जानना चाहता हूँ। पिता ने तप करने की आज्ञा दी। कठिन तपस्या के बाद पुत्र ने समझा अन्न ही ब्रह्म है। पिता ने फिर तप करने को कहा। इस समय पुत्र कुछ और गहराई में गया। उसने प्राण को ही ब्रह्म समझा। पिता को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने पुत्र से तप के लिए कहा। पुत्र ने फिर तप किया और समझा कि मन ही ब्रह्म है। पिता फिर भी असंतुष्ट रहे। फिर तप करने के बाद पुत्र ने अनुभव किया, विज्ञान ही ब्रह्म है। पर पिता को संतोष नहीं हुआ। फिर से कठिन तपस्या के बाद पुत्र ने समझा आनंद ही ब्रह्म है। यही चरम सत्य था। इन पाँचों तत्वों को आश्रय करके संसार के भिन्न-भिन्न दार्शनिक मत बने हैं।

मिथकीय दृष्टि से द्विवेदी का हिमालय निबंध सफल निकला है। इसमें कहा गया है कि पार्वती, पर्वत की कन्या है। रामायण के बालकाण्ड में बताया गया है कि हिमालय की दो कन्याएँ हैं – पार्वती और गंगा। ये पवित्र भारत भूमि को भीतर और बाहर से पवित्र कर रही हैं। तपोनिरता कुमारी पार्वती ने अगस्तमुनी की प्रार्थना पर कैलास से कुमारी अन्तरोप तक पैदल यात्रा की थी, इसलिए पुराणों में भारतवर्ष की इस भूमि का नाम ही कुमारी का द्वीप बताया गया है। यह कथा बिलकुल मिथक है।

हिमालय की महत्ता को व्यक्त करने के लिए द्विवेदी ने रावण के संबंध में एक कहानी का उल्लेख किया है जो रामायण में नहीं देखा जाता। एक बार कैलास को जितने की दुराकंक्षा रावण के मन में आई थी। उसने यक्षों और गन्धर्वों को जीतकर कैलास पर आ जमाने की हिम्मत की थी। नन्दी के मना करने पर भी वह नहीं रुका। नन्दी ने कहा था – यह पर्वत सर्वभूत के लिए अगम्य बताया गया है। रावण नहीं

माना। उसने हिमालय के सर्वोत्तम श्रृंग कैलास को उठा लेने की कोशिश की। क्षण-भर के लिए कैलास डगमगा गया। महादेव अपने पैर के अंगूठे से उसे दबाया और फिर त्रैलोक्य काँप उठा। महादेव ने तो उसे गिडगिडाते देख माफ़ कर दिया पर नन्दी का शाप उसे खा लिया। मदमत्त रावण को वानर की सेना चाट गई। जिस किसी ने इस गिरिराज को मदमत्त होकर हिलाने का प्रयत्न किया, उसी को यही दशा हुई। आज भी मदगर्वित सेनानियों को कहा जा सकता है कि 'सावधान' चट्टान पर सर न मारो, रावण की गति को प्राप्त न करो'।

‘भारत की समन्वय साधना – धर्म और दर्शन के क्षेत्र में’ निबन्ध में द्विवेदी ने भारतीय संस्कृति की समन्वय साधना पर मिथकीय दृष्टि से प्रकाश डाला है। भारतीय मनीषियों ने फिलोसफी और दर्शन का उचित सांमजस्य किया है। यह सांमजस्य या संगति लाना भारतीय मनीषा की बड़ी भारी देन है। हर धर्म – साधना के तीन पक्ष होते हैं- उसके पीछे काम करनेवाली तत्वमीमांसा (दर्शन), उसको सरस रूप में उपस्थित करनेवाला वांग्मय (काव्य), और जीवन के व्यवहार के क्षेत्र में ले आने के लिए तत्वानुयायी कर्मकाण्ड (क्रिया)। ये तीनों ज्ञान, इच्छा और क्रिया के प्रतिपादक होते हैं। धर्म साधना में इन तीनों का अंतर्भाव होता है। समस्त भारतीय धर्म साधना में इन तीन पक्षों को खोजा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी विशेषता रही है कि समागत कबीलों, नस्लों और पतियों की भीतरी सस्था और धर्म – मत में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया, फिर भी उन्हें सम्पूर्ण रूप से भारतीय बना लिया गया। भारतीय संस्कृति इतने अतिथियों को जो अपना सकी है, उसका एक कारण यह था कि उसकी धर्म – साधना शुरू से ही वैयक्तिक रही है। प्रत्येक व्यक्ति को मालुम हैं कि अपने किये का

ज़िम्मेदार आप है। श्रेष्ठता की निशानी किसी धर्म मत को मानना या देव – विशेष की पूजा करना नहीं है, बल्कि आचार शुद्धि और चारित्र्य है। यदि कोई अपने कुल – धर्म के पालन में द्रुत है, चरित्र से शुद्ध है, दूसरी जाति या व्यक्ति के आचरण की नकल नहीं करता, बल्कि स्वधर्म में मर जाने को ही श्रेयसकर समझता है, ईमानदार है, सत्यवादी है तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है। फिर चाहे वह शूद्र हो, ब्राह्मण हो, शैव हो या वैष्णव। कुलीनता, पूर्व जन्मों के पुण्यों का फल है। चरित्र इन जन्म के कर्मों का प्रकाशक। देवता, किसी एक जाति की संपत्ति नहीं होता, वह सबकी पूजा पाने का अधिकारी है। पर यदि स्वयं देवता ही चाहता हो कि वह किसी विशेष जाति की ही पूजा ग्रहण करेगा, तो भारतीय संस्कृति को इसमें भी एतराज़ नहीं। राहु देवता अगर डोमो को दिये दान से ही प्रसन्न होते हैं तो यही सही। ब्राह्मण भी डोम को दान देकर ही उन्हें प्रसन्न करेगा। इन विश्वासों ने एक विचित्र प्रकार की सहनशीलता, सौन्दर्य और सर्ववादी दृष्टि उत्पन्न की है। इसी विश्वास ने सब जगह से और सब जातियों से उत्तम आचार – विचार को संग्रह करने और उन्हें यथास्थान सजाने की समन्वय बुद्धि को प्रतिष्ठित किया है।

‘भारतीय मेले’ नामक निबंध में कई देवताओं की बात गई है। यक्षों और नागों के देवता कुबेर, सोम, अप्सरस और अधि देवता वरुण थे, यह पुराणों से भी सिद्ध होता है। कुबेर किसी समय वरुण के अधीन थे और वरुण देवता यक्षों के देवाधिदेव थे। यक्ष लोग वृक्षों के और नाग जल के अधिष्ठता माने जाते थे। महाभारत में ऐसी अनेक कहानियाँ आती हैं, जिनमें सन्तानार्थी स्त्रियाँ वृक्षों के अधिदेवता के पूजन के लिए वृक्षों के पास जाती थीं। वस्तुतः ये उर्वरता के देवता थे। भरहुत, बोधगया, साँची, मधुरा आदि से इसप्रकार वृक्षों के पास सन्तानार्थिनी स्त्रियों के जाने की अनेक मूर्तियों मिली हैं। इन वृक्षों के पास अंकित स्त्रियों प्रायः नग्न उत्कीर्ण

है, केवल कटी देश में एक चौड़ी मेखला धारण किये हुए है। वृक्षों में अधिकतर बरगद, पीपल और गुलर के पेड़ थे। प्रायः पेड़ों में कोटर है। यह विश्वास किया जाता है कि कोटरों में नाग और यक्ष का निवास होता था।

भारतवर्ष के विभिन्न देवी पीठों में प्रतिवर्ष मेले लगते हैं। इनमें जो विश्वासों और मान्यताएँ हैं, उनकी खोज - बीन करने से अनेक रहस्यों का पता चलेगा। “पुराणों के अनुसार तीर्थ की चार श्रेणियों हैं जो चारों पुरुषार्थों के नाम पर हैं अर्थात् धर्म तीर्थ, अर्थ तीर्थ, कामतीर्थ और मोक्षतीर्थ। नदी के तट पर या सरोवर के तीर पर परलोक बनाने के उद्देश्य से लोग स्नान-दान-कथा पुराण आदि केलिए आयोजित मेलों के रूप में चले आ रहे हैं। धर्मशास्त्र में पुण्य केलिए अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्यों का, रन तीर्थों में विधान है।”²⁸ प्रत्येक अवसर पर जन-समागत होता है और कुछ - न - कुछ खरीद-बिक्री भी चलती है। पर मुख्य उद्देश्य पुण्यार्जन होता है। फिर कुछ ऐसे भी तीर्थ या घाट होते थे, जिनमें व्यापार होता था। नाच - गान, आमोद-प्रमोद उनका लक्ष्य था। श्रुतमंगल के मेले इसी श्रेणी में आते हैं। बहुत थोड़े तीर्थ ऐसे हैं, जहाँ मोक्ष-कामी लोग तपस्या द्वारा मोक्षप्राप्ति केलिए जाते हैं। ये मेले हमारे सांस्कृतिक जीवन के जीवन्त प्रतिक हैं।

‘क्या निराश हुआ जाय’ नामक निबन्ध में आचार्यजी ने भारतीय संस्कृति की गरिमा तथा मानवीय मूल्यों का मिथकीय दृष्टि से वर्णन किया है। वे कहते हैं कि भारतवर्ष ने कभी भी भौतिक वस्तुओं के संग्रह को महत्व नहीं दिया। उनकी दृष्टि में मनुष्य के भीतर जो महान आन्तरिक तत्व स्थिर भाव से बैठा हुआ है, वही चरम और परम है। लोभ - मोह, काम - क्रोध आदि विकार मनुष्य में स्वाभाविक रूप से

²⁸ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 501

विद्यमान रहते हैं। पर उनके प्रधान शक्ति मान लेना और अपने मन और बुद्धि को उन्हीं के इशारे पर छोड़ देना बहुत निकृष्ट आचरण है। भारतवर्ष ने कभी भी इनका महत्व नहीं दिया। इन्हें सदा संयम के बन्धन से बाँध कर रखने का प्रयत्न किया है।

भारतवर्ष अब भी यह अनुभव कर रहा है कि धर्म, कानून से बड़ी चीज़ है। अब भी सेवा, ईमानदारी, सच्चाई और आध्यात्मिकता के मूल्य बने हुए हैं। मनुष्य आज भी मनुष्य से प्रेम करता है, महिलाओं का सम्मान करता है, झूठ और चोरी को गलत समझता है, दूसरे को पीड़ा पहुँचाना पाप समझता है और कठिनाई में पड़े हुए बेबस लोगों की सहायता करने में अपने को कृतकृत्य अनुभव करता है। निबन्धकार कहते हैं कि हर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में इस बात का अनुभव करता है।

‘राष्ट्रिय एकता के प्रतीक –शिव’ निबन्ध में मिथकीय कथाओं का समावेश देखने को मिलते हैं। अमृत का भागी बनाना ही शिवत्व का आदर्श है। भूत-प्रेत पिशाचों को घिरे रहकर, भक्ति को वे देवत्व प्रदान करते हैं, स्वयं दिगंबर रहकर सेवकों को दिव्याम्बरधारी बनते हैं। वे विश्वमूर्ति हैं, उनका वेश अशिव है, पर वह स्वयं शिव है। संसार जब असुरों के अत्याचार से त्राहि-त्राहि कर उठा था, तो उन्होंने त्रिपुरासुर का संहार किया, पर जब आनन्दोल्लास में स्वयं उन्मत्त होकर ताण्डव किया तो त्रैलोक्य काँप उठा। वे नटराज हैं। उनके विराट ताण्डव का प्रचार तण्डुमुनी नामक उनके शिष्य ने किया। पार्वती ने उन्मत्त धुर्जटी को प्रसन्न करने के लिए जो सुकुमार नृत्य किया वही लास्य है। शिव ने नाट्यवसान के समय डमरू को जो गडगडाया, तो उसमें चौदह आवाज़ें निकली जो व्याकरण शास्त्र के मूल चौदह सूत्र हैं।

आधुनिक पंडितों का कहना है कि आर्य देवता मण्डली में शिव का प्रवेश बहुत बाद में हुआ है। दक्षयज्ञ में, उन्हें यज्ञ भाग नहीं दिया गया था। उस यज्ञ का विध्वंस हुआ। सती उस समय मरी थी। बताया जाता है कि इस कहानी में शिव के आर्य देवता मण्डली में स्थान आरंभिक इतिहास की और इंगित है।

“शिव का परिवार भी बहुत महत्वपूर्ण है। कैलास उनकी वासभूमि है, पार्वती और गंगा उनकी प्रिया है, देवताओं के सेनापति स्कन्द और सर्वमंगल के अधिष्ठाता गजानन गणेश उनके पुत्र है, नागाधिराज हिमालय उनके सुर है। इन सबने हमारे देश को प्रभावित किया है।”²⁹ शिव के परिवार की पूजा हर मंगल अवसर पर होती है। भारतवर्ष के गाँव-गाँव में शिव मंदिर मिलता है। महावीर हनुमान को भी उनका अवतार माना जाता है। निबन्ध के अन्त में निबन्धकार कहते हैं कि सम्पूर्ण राष्ट्र को एकसूत्र में बाँधनेवाले इस विषपायी नीलकण्ठ ने कितना कुछ किया है, इसका हिसाब रखना कठिन है। ‘विभिन्नता में एकता’ को बनाये रखने का कार्य द्विवेदी ने मिथकीय दृष्टि से की है।

‘सर्वे पुंसां परोधर्मः’ नामक निबन्ध में द्विवेदी कोई एक मिथक तत्व की खोज में भटकता रहता है। वे लिखते हैं कि आज का मनुष्य रह-रह कर पूछता है कि वह क्या वस्तु है जिसे पाने के लिए सब पाया हुआ मनुष्य भी छटपटा उठता है। भिन्न-भिन्न युग में मनुष्य ने कल्पना के अनुसार इस चिरन्तन लालसा की तृप्ति के उपाय खोजे हैं। दीर्घकाल तक वह अनुभव करता रहा कि यह जो कुछ परिदृश्यमान है, जो कुछ इन्द्रियग्राह्य है, जो कुछ हुआ जो सकता है, देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, उससे उसका अन्तरतर तृप्त नहीं होता। सीमाओं से बन्धी हुई वस्तु के पाने से

²⁹ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 349

मनुष्य की वह चिर – अतृप्त लालसा अतृप्त ही रह जाती है। युग – युग से मनुष्य ने घोषणा की है कि सीमाओं से बंधे हुए पदार्थ से पाया जानेवाला सुख क्षणिक है, उससे मनुष्य की शाश्वत तृप्ति नहीं होती। इसको पाकर भी मनुष्य का अन्तरतर धडी की तरह भाग खड़ा होता है। ससीम वसुओं से मनुष्य को तृप्ति नहीं होती, वास्तविक तृप्ति के लिए कुछ सीमातीत वस्तु चाहिए। दीर्घकाल से मनुष्य की अंतरात्मा की भूख ने नाना – भाव से अपने को प्रकट किया है। कुछ लोगों ने यह प्रयत्न किया है कि वह जो सीमातीत निर्मम पदार्थ है, वह त्रिकालबाधित सत्य है। मनुष्य के मन में जिस प्रकार की माया है और ममता है, वह उसके चित्त में नहीं है। मनुष्य उसको पाने के लिए जितना भी व्याकुल क्यों न हो, उसके साथ मिलकर एकाकार हो जाने के लिए कितना भी व्याकुल क्यों न हो, उसके साथ मिलकर एकाकार हो जाने के लिए कितना भी उस्तुक क्यों न हो, वह निर्लोप है, निर्मम है, अनासक्त है, उसे पाने का सहज उपाय यह है कि मनुष्य भी अपनी आसक्ति छोड़े, अपनी वासनाओं को त्याग करें, और उस परम काम्य का समानधर्म बन जाये। वासनाओं और कामनाओं से लिप्त रहकर निर्गुण, निर्विकार को नहीं पाया जा सकता। यही विश्वास के साथ भारतीय आगे बढ़ते हैं।

‘हिन्दू संस्कृति के अध्ययन के उपदान’ में द्विवेदी लिखते हैं कि पुराणों में देवासुर संग्राम का उल्लेख है। “महाभारत से पता चलता है कि भुगुवंशी श्रुषी उराना (शुक्र) असुरों के आचार्य थे और अंगिरा के वंशज बृहस्पति देवताओं के। यह भयंकर युद्ध था और संभवतः दीर्घकाल तक चलता रहा। उन दिनों भारतवर्ष के मध्यदेश में ययाति राजा का राज्य था। ये पुरुखा के पौत्र, नहुष के पुत्र और मध्य- देशीय आदि आर्यों के नरपति थे। इन्हें महाभारत में और पुराणों में चक्रवर्ती राजा बताये गये हैं। इनका विवाह शुक्राचार्य की कन्या देवयानी से हुआ था, परन्तु बाद में असुर राज की पुत्री

शर्मिष्ठा भी इनकी रानी हुई।”³⁰ यहाँ वर्तमान समाज की दुरवस्था का वर्णन करने के लिए ही निबन्धकार ने देवासुर युद्ध की कहानीका प्रतिपादन किया है। इसमें जो देवासुर युद्ध की बात कहीं गई है वह वास्तव में बुराई और भलाई के बीच की लड़ाई है। इसप्रकार के मिथकों का समावेश प्रस्तुत निबन्ध में देखा जा सकता है। ‘समाज संस्कार पर विचार’ नामक अपने निबन्ध में द्विवेदी ने समाज के मूल्यों पर प्रकाश डाला है। पुराणों को माध्यम बनाकर उन्होंने व्यक्त किया है कि परोपकार ही पूज्य है और परपीड़न पाप है। महाभारत में व्यास देव के मुख से जब सुनते हैं कि कोई भी किसी का उपकार करने में असमर्थ है, तो बुद्धि विभ्रन्न हुए बिना नहीं रहती। मनुष्य अपने दृष्टिकोणसे सुख – दुःख को देखता है। मगर सुख – दुःख का कोई एक ही मानदंड समस्त प्राणियों के लिए नहीं है किसी कार्य के कर्त्यव्याकर्तव्य- विचार में दूसरों के मत की परवा न करो। केवल इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी अन्तरात्मा इस विषय को स्वीकार करती है या नहीं।

‘गीता’ में भगवान् कृष्ण ने, और संपूर्ण महाभारत में व्यास ने, बार –बार इस बात को दुहराया है कि कर्म तभी सात्विक होता है, जब वह राग –द्वेषादि द्वंद्वों से चालित नहीं होता, जब वही फलाशा को त्याग करके किया जाता है। इसका कारण यह बताया गया है कि राग- द्वेषादि के कारण वस्तु की यथार्थता समझ में नहीं आती। भारवि कवि ने अपने ‘किरात’ काव्य में इंद्र से अर्जुन के प्रति कहलवाया है कि हिंसादी द्वेष का मूल कारण अर्थ और काम है, इन्हें मन में पोषण न करो, क्योंकि ये दोनों, तत्व असलियत की जानकारी में बाधक हैं।

³⁰ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 308-309

हमारे कर्तव्य बोध को समझाने के लिए द्विवेदी ने मिथकों का सहारा लिया है। अर्जुन को जब मोह हुआ, तो उस मोह के समर्थनार्थ उनके पास स्मृति – पुराणों की बहुत – सी युक्तियाँ थीं। गुरुजनों से लड़ने का अनुमोदन कोई स्मृति नहीं करती, परन्तु वहाँ स्मृति – पुराणोदित दो बड़े – बड़े विधानों का निरोध हो रहा था। शास्त्र जहाँ गुरुजनों को मारने का निषेध करते हैं, वहाँ लड़ने के लिए तत्पर क्षत्रिय की चुनौती का जवाब लड़ाई से देने का विधान भी करते हैं। इन दोनों में कौन – सा कर्तव्य और कौन – सा अकर्तव्य? इस प्रकार का विरोध केवल अर्जुन के जीवन में ही हुआ हो, ऐसा नहीं। द्विवेदी कहते हैं कि महाभारत में ऐसी सौकड़ों प्रसंगों का उल्लेख है, जहाँ पर इस प्रकार के विरोध उपस्थित हुए हैं। इसी विरोध के अवसर पर उचित कर्तव्य का निर्णय जो विधि करा सके, उसे भगवान ने शास्त्र – विधि कहा है।

‘द्विवेदीजी के ‘भाव और भगवान’ नामक निबन्ध में मिथकों का समावेश देखा जा सकता है। वे कहते हैं कि भगवान केवल सज्ञामय या चिन्मय नहीं है, चिन्मय रूप उनका एक अंग है। इसी चिन्मय रूप को ब्रह्म कहते हैं। इस एश्वर्यमयी रूप को तत्त्ववेत्ता लोग परमात्मा कहते हैं, परन्तु भगवान का जो रूप है वह प्रेममय है। यही भगवान पृथ्वी पर अवतार ग्रहण किया करते हैं। अवतार के हेतु, श्रीमद् भगवत् गीता में साधुओं की रक्षा, दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना को कहा गया है।

द्विवेदी कहते हैं कि भाव को गाढ़ होने का अपना क्रम है। सबसे पहले साधक को निरन्तर अपने यथार्थ भावों के अनुकूल वस्तुओं की कामना करनी होती है। ये वस्तुएँ इस भाव – जगत में अनायास उपलब्ध हो जाती हैं। कुछ दिनों तक इस प्रकार उपलब्ध हो जानेवाले पदार्थों से उत्पन्न सुख फीका पड़ जाता है। भक्तिशास्त्र

के आचार्यों ने बताया है कि इसप्रकार के आनन्द के फीका पड़ने का हेतु जीवात्मा की अपूर्णता है। उसे केवल आनन्द और सुख के साधन ही नहीं चाहिए। जिस दिन साधक इस साथी की खोज करने लगता है, उस दिन उसे अपनी यथार्थ प्रकृति का दूसरा परिचय मिलता है। साथी ऐसा होना चाहिए, जो उसका निकटतम प्रिय हो। वह साथी भी भाव-जगत में मिल सकता है। यह जो निकटतम साथी, वही उसका परम प्राप्तव्य है।

अपने स्वभाव के अनुसार इन अनेक प्रकार के साथियों में से किसी एक की अभिलाषा की जाती है। अभिलषित साथी ही वस्तुतः भगवान है। भाव – जगत में उसके आ जाने के बाद ही साधना परिपूर्ण होती है। इसमें द्विवेदी ने भाव –जगत तथा भौतिक जगत की परिकल्पना करके, उसमें भाव – जगत के महत्व पर प्रकाश डाला है।

‘भारतीय संस्कृति और हिन्दी का प्राचीन साहित्य’ मिथकीय दृष्टि से द्विवेदी का एक सफल निबंध है। इसमें द्विवेदी ने कालीपूजा की बात बताई है। गोरखनाथजी जब गोरखवंसी (आधुनिक कलकत्ता) आये तो वहाँ देवी काली से उनकी मुठभेड़ हो गई थी। कालीजी को ही हारना पड़ा। फलस्वरूप उनके समस्त शक्त शिष्य गोरखनाथ के संप्रदाय में शामिल हो गए। तभी से गोरख मार्ग में कालीपूजा प्रचलित हुई।

निरंजन की उत्पत्ति के बारे में लिखा हुआ है कि जब आरंभ में रूप, रेखा, वर्ण, चिह्न, , चन्द्र आदि कुछ भी नहीं थे – केवल अंधकार था। उस समय महाप्रभु शून्य में विराज रहे थे। उनके मन में जब सृष्टि करने की इच्छा हुई, तो उन्होंने अनिल की सृष्टि की और स्वयं ‘विम्ब’ या बुदबुद पर समासीन हुए। प्रभु के भार को

सहन न करने के कारण विंब या बुदबुद खण्ड-खण्ड होकर चूर्ण हो गया। प्रभु पुनर्वार शून्य में विराजमान हुए। फिर जब प्रभु के मन में दया उत्पन्न हुई तो उन्होंने स्वयं ही अपनी काया बनाई। यही निरंजन या धर्म हुए। शुरू-शुरू में यह निरंजन की काया में आँख-कान, हाथ-पैर आदि कुछ भी नहीं थे।

निरंजन ने चौदह युग अपनी जम्हाई से उत्पन्न एक उलूक की पीठ पर ब्रह्म ध्यान में काट दिए। बेचारा उलूक भूख-प्यास से व्याकुल हो गया। तब निरंजन ने अपने मुख का अमृत उसे दिया। उसी अमृत का कुछ हिस्सा शून्य में आ गिरा जो पानी बन गया। उल्लू बहने लगा। तब निरंजन की इच्छा से हंस का जन्म हुआ और निरंजन उस पर विराजे। हंस भार सह न सकने के कारण वहाँ से भाग खड़ा हुआ। उलूक मुनि ने जो यह दशा देखी तो अपना पंख फैलाकर निरंजन भगवान् के पास-पास फिरने लगा। निरंजन ने उन पंखों को अपने कर-कमलों से स्पर्श किया जिससे कूर्म का आविर्भाव हुआ। इसी कूर्म की पीठ पर धर्म या निरंजन देवता ने आसन ग्रहण किया। इस प्रकार एक ओर कूर्म, दूसरी ओर उलूक मध्य में निरंजन भगवान् या धर्पारायण ध्यानमग्न हो युगों तक विचरते रहे।

कूर्म भी भार सह न सके और फिर धर्म और उलूक पानी में बहने लगे। उलूक की प्रार्थना पर धर्म ने अपना जनेऊ फेंका जो वासुकी नाग बना और फिर पृथ्वी बनी। धर्म देवता और उलूक पृथ्वी भ्रमण करने निकले। जब थककर वे पसीने से तर हो गए तो उसी पसीने से आद्या का जन्म हुआ। आद्या ने कामदेव को उत्पन्न किया जो धर्मदेवता का तपोभंग करने चला, पर अभागा पकड़ा गया। उलूक ने उसे मिट्टी के भांड में बंधकर दिया, जिससे काल कूट विष उत्पन्न हुआ। निराश होकर यौवन मदमाता आद्या ने उस विष को ही खा लिया और उसे गर्भ रह गया। इसी गर्भ से तीन पुत्र ब्रह्म, विष्णु और शिव उत्पन्न हुए। तीनों ने घोर तप किया। धर्म देवता ने उनको छलने के लिए दुर्गंध शव-रूप धारण करके उनके पास गए। ब्रह्मा ने उस शव

को ठेल दिया और विष्णु ने भी, पर शिव ने उसे स्वीकार किया। फलस्वरूप प्रसन्न होकर धर्म नारायण ने शिव को त्रिनेत्र होने का वर दिया। शिव के मुखामृत से ही ब्रह्मा और विष्णु की आँखे हुईं। इसके बाद आद्या अपने तीनों पुत्रों के साथ निरंजन के पास गई और सृष्टि रचना का उपाय पूछा। निरंजन या धर्म देवता ने आज्ञा दी कि 'योनिरुपा हो जाओ और समस्त जीव-जंतु तुम्ही से जन्म ले'।

धर्म की उत्पत्ति तथा सृष्टि रचना के संबंध में भी द्विवेदी ने प्रस्तुत निबंध में मिथक कथा की सृष्टि की है। आरंभ में जब सूर्य, चन्द्र, अष्टदिक्पाल आदि कुछ भी नहीं थे, उस समय महाप्रभु शून्य में आसन जमकर बैठे हुए थे। जब महाप्रभु ने समस्त दुरितों का नाश कर दिया तो उनके शरीर से धर्म का मुख प्रकाशित हुआ। उससे उन्होंने जम्हाई ली, जिससे पवन की उत्पत्ति हुई। महाप्रभु ने पवन को सृष्टि रचना की आज्ञा दी, पर पवन को डर लगा कि यदि मैं सृष्टि करूँगा तो उसके मोह में पड़ जाऊँगा, इसलिए उसने सृष्टि करने का संकल्प छोड़ दिया और त्याग तप में निमग्न हो रहा। फिर महाप्रभु ने अपने युग नामक दूसरे पुत्र को सृष्टि करने की आज्ञा दी। उसे भी संसार चक्र में मोहग्रस्त होकर फँस जाने का भय हुआ और इसलिए उसने भी सृष्टि नहीं की। फिर तो महाप्रभु ने निरंजन नामक तीसरे पुत्र को उत्पन्न किया। वह भी उस बाह्य से लौट आया। फिर महाप्रभु ने निर्गुण नामक पुत्र को उत्पन्न किया जिसने गुण नामक पुत्र को उत्पन्न कर सृष्टि करने की आज्ञा दी। गुण ने स्थूल को उत्पन्न करके वही आज्ञा दी। उसने धर्म नामक पुत्र को उत्पन्न करके उससे कहा कि 'तुम सृष्टि रचना का आरंभ करके तुरंत लौट आना, नहीं तो मोह में फँस जाओगे'। वह बेचारा घबराया कि 'यह कैसे हो सकता है कि मैं मोह की रचना करूँ और उसी मोह से बचा भी रहूँ'। उसके माथे से पसीना निकल आया। उसी पसीने से माया नामक एक स्त्री उत्पन्न हुई जिसे देखकर उसके चित्त में विक्षोभ हुआ और उसका शुक्लखलित होकर तीन हिस्सों में बंट गया जिससे ब्रह्म, विष्णु और शिव की

उत्पत्ति हुई। इन तीनों पुत्रों को सृष्टि करने का आदेश देकर जब धर्म जाने को हुआ तो वह माया भी उसके साथ जाने को तैयार हुई पर धर्म ने उसे पुत्रों के साथ ही रहने का आदेश दिया।

द्विवेदी का मिथकीय दृष्टिकोण भी 'भारतीय साहित्य का मेरुदण्ड' निबन्ध में विद्यमान है। हिन्दू में स्वर्ग और नरक के विचार हैं। और प्रायश्चित्त द्वारा कर्मफल से छूटने का विधान भी है। पुण्य कर्म के लिए आत्मा का स्वर्ग में रहना, और पाप कर्म के लिए नरक में रहना और फिर पृथ्वी पर आने का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। यहाँ स्वर्ग और नरक का जो संकल्प है वह मिथक है।

'भीष्म को क्षमा नहीं किया गया' नामक निबंध में द्विवेदी वर्तमान समाज की दयनीयता के बारे में और उस दर्दनाक स्थिति को देखकर चुप रहनेवाले साहित्यकारों पर प्रकाश डाला है। इसको व्यक्त करने के लिए वे मिथकों का प्रयोग करते हैं।

द्विवेदी "कहते हैं कि कौरवों की सभा में भीष्म ने द्रौपदी का भयंकर अपमान देखकर भी जिस प्रकार मौन धारण किया था वैसे ही मैं और मेरे जैसे अन्य साहित्यकार यहाँ चुप बैठे हैं।"³¹ भविष्य इसे उसी तरह क्षमा नहीं करेगा जिस प्रकार भीष्म पितामह को क्षमा नहीं किया वर्तमान समाज के अनीतियों तथा अत्याचारों को देखकर चुप रहने वाले साहित्यकारों के प्रतीक के रूप में द्विवेदी ने भीष्म पितामह को चित्रित किया है।

भीष्म शरशय्या पर सोये, मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्हें उचित मुहूर्त में मरना चाहिए। साधारण मनुष्य मुहूर्त का विचार किए बिना ही मर जाते हैं। भीष्म ऐसे नहीं थे। उन्हें इच्छा मृत्यु का वरदान प्राप्त था। जब तक उत्तम मुहूर्त न आ जाए

³¹ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9, पृ : 247

तब तक वह मृत्यु नहीं चाहते थे। युधिष्ठिर ने इसका फायदा उठाया। भीष्म पितामह अनेक बाणों की नोक पर सोये हुए थे। उनका तकिया भी बाणों की नोक का ही बना था। यह देखकर द्विवेदी का मन व्याकुल हो उठता है। वे सोचते हैं कि वह हज़ार ब्रह्मचारी रहे हो, उन्हें बाणों की नोक तो चुभती ही होगी।

द्विवेदी का पूछना है कि भीष्म को अवतार क्यों नहीं माना गया? वह स्वयं ही इस उत्तर पर पहुँचा कि वे उन्हें अभी तक क्षमा नहीं किया गया है। एकान्त में लेटे-लेटे भीष्म अपने बारे में सोचते होंगे। शायद अपनी गलती के बारे में सोचे होंगे। उन्हें पता चला होगा कि समाज उन्हें मांफी नहीं दूँगा। आधुनिक साहित्यकार भी इस प्रकार चुप रहने के कारण समाज कैसे उन्हें स्वीकार करेंगे?

प्रस्तुत निबंध के द्वारा निबंधकार मिथक पात्रों के माध्यम वर्तमान साहित्यकारों की अनास्था पर तथा समाज के प्रति फीका दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हैं।

‘भारतीय फलित ज्योतिष’ निबंध में द्विवेदी लिखते हैं कि भूकंप के लिए कश्यप कहते हैं कि पृथ्वी, पानी के ऊपर तैर रही है। पानी में मच्छ, कच्छप आदि बड़े-बड़े जल-जंतु हैं। उन्हीं के क्षुब्ध होने से पृथ्वी काँप उठती है। गर्ग का कहना है कि पृथ्वी, हाथियों की पीठ पर स्थित है। कभी-कभी थककर वे ही शरीर हिला दिया करता है, भूकंप हो जाता है। वशिष्ठ कहते हैं कि पृथ्वी के ऊपर हवाओं के प्रतिघात होने से धरती काँप उठती है। इस प्रकार का मिथकीय विश्वास उस ज़माने में मौजूद थी।

‘भारत में द्युतक्रीडा’ नामक निबंध में पुराने ज़माने के खेलों का वर्णन द्विवेदी ने किया है। ज़माने से अनेक प्रकार के खेलों के मिश्रण से जुआ खेलने की विधियाँ बराबर परिवर्तन होता रहा है। पाणिनि के समय पाँच पासों का खेल था, जिन्हें

कृत, त्रेता, द्वापर, कलि और अक्श्राज कहा गया था। एक बार यदि कृत का दाँव आ गया, तो खिलाडी जीतता ही चला जाता था। शकुनी इस कला में प्रवीण थे। अच्छे जुआड़ी तो मंत्र भी साधते थे। इस मंत्र का नाम 'अक्ष हृदय' था। महाभारत की टीका में नीलकंठ ने ऐसा ही बताया है। प्रस्तुत निबंध में शकुनी का प्रतिपाद्य हुआ है जो महाभारत का प्रमुख पात्र है। वह अपनी कूटतंत्र से पांडवों को पराजित करके, वनवास के लिए भेजता है। यहाँ शकुनी वर्तमान समाज के कूट नीतिज्ञों के प्रतीक के रूप में द्विवेदी ने चित्रित किया है।

'ज़िन्दगी और मौत के दस्तावेज' नामक निबंध में द्विवेदी ने एक मिथकीय कथा के माध्यम से मृत्यु की अनिवार्यता को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि मृत्यु बड़ा सत्य है। आदमी यह जानता है कि मरना निश्चित है, लेकिन वह कभी- इस सत्य को मानने के लिए तैयार नहीं होता है। एक बार यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया कि सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि प्रतिदिन लोग मर रहे हैं, फिर भी जो बचे रह जाते हैं उनमें जीने की इच्छा बराबर बनी रहती है। यही बहुत बड़ा आश्चर्य है। इस प्रसंग से हमें पता चलता है कि प्रथम सत्य है मृत्यु और दूसरा सत्य है जिजीविषा। यह सत्य है कि मृत्यु अनिवार्य है, व्यक्ति रूप में प्रत्येक व्यक्ति मरने को बाध्य है। जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु होगी।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के हर निबंधों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि के सारे के सारे निबंधों में इतिहास, संस्कृति एवं मिथक के प्रमुख तत्व विद्यमान हैं। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' निबंध में मानवीय संस्कृति के उद्गम से, उसके अद्यतन के बीच की बहुविधि स्थितियों एवं परिणतियों का तर्कसंगत इतिहास प्रस्तुत करते हुए आचार्य द्विवेदी ने मनुष्य की बर्बर अवस्था से लेकर आधुनिकतम वैज्ञानिक निष्पत्तियों तक मनुष्य की परिवर्तित मानसिकता को चित्रित किया है। उनका मत है कि नाखून, मनुष्य की पाश्चिकता का प्रतीक है, वह बार-बार काटने पर

भी नहीं मरता, किंतु मनुष्यता उसकी प्राकृत अवस्था को संस्कार-संपन्न करती है। मन, वाणी और शरीर के आचरण को परिष्कृत करना ही सदाचार एवं वास्तविक मनुष्य धर्म है। 'आम फिर बौरा गए' निबंध में आम्र मंजरी के विविध सन्दर्भों की खोज में आचार्यजी कालिदास के काव्य से लेकर काम शास्त्र, सरस्वती कंठाभरण, काम गायत्री और कृष्ण गायत्री तक की यात्रा करते हैं और अंत में असुरों की संस्कृतियों का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। 'देवदारु', 'शिरीष के फूल', 'कुटज' आदि निबंधों में आचार्यजी के आगाध प्रकृति प्रेम के साथ ही साथ उनके साँस्कृतिक दृष्टिकोण तथा मिथकीय धारणाएँ प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है। शिरीष के फूलों की जड़ता एवं अधिकार लिप्सा के माध्यम से द्विवेदी आधुनिक नेताओं की अधिकार लिप्सा एवं स्थार्थता का चित्रण करते हैं। आचार्य द्विवेदी का विश्वास है कि जीवन्त और कालजयी काव्य का प्रणेता, शिव भी शिरीष की भाँती है जिसका मन अनासक्त हो। 'भगवान महाकाल का कुंडनृत्य' बंध में द्विवेदी लिखते हैं कि इस विषाक्त वातावरण में हमें अपने पारंपरिक संस्कारों को परिवर्तित करना होगा। स्वतंत्रता पूर्व भारत का इतिहास प्रस्तुत करते हुए इसमें वे मनुष्य के संघर्षभरित जीवन की ओर इशारा करते हैं। 'ठाकुरजी की बटोर', 'संस्कृतियों का संगम', 'आंतरिक शुचिता भी आवश्यक है', 'वैशाली', 'हिमालय' आदि निबंधों में द्विवेदी की साँस्कृतिक दृष्टि एवं साँस्कृतिक ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। 'ठाकुरजी की बटोर', गाँव की अति सामान्य ग्रामीण जीवन का निबंध है तो 'संस्कृतियों का संगम' में द्विवेदी ने वर्तमान भारतीय संस्कृति को निर्मित करनेवाले अनेक घटक तत्वों एवं ऐतिहासिक क्रम में घटित विकास प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आर्यों के मन से लेकर, भारत में जिन-जिन संस्कृतियों का आविर्भाव हुआ, इन सभी का परामर्श प्रस्तुत निबंध में विद्यमान है। इसमें वे कहते हैं कि इन सभी जातियों के सम्मिलित प्रयत्न से वह महिमामयी संस्कृति उत्पन्न हुई जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं। 'धर्मस्य

तत्त्वं निहितं गुहायां' निबंध में वैदिक संस्कृति, द्रविड संस्कृति, श्रमण संस्कृति, जैन संस्कृति आदि का विस्तृत विश्लेषण करते हुए संस्कृतियों के परस्पर संघातों एवं विविध परिणतियों को प्रस्तुत किया गया है। 'आंतरिक शुचिता भी आवश्यक है' निबंध के द्वारा द्विवेदी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जब तक हमारा भीतर पवित्र नहीं होता, तब तक हम उन्नत और सभ्य नहीं हो सकेंगे।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि उनके सारे के सारे निबंधों में इतिहास, संस्कृति एवं मिथक के प्रमुख तत्व विद्यमान हैं। 'देवदारु', 'अशोक के फूल', 'कुटज' आदि निबंधों में मानव जीवन की पुनर्वाख्या का भाव है तो वैशाली, मेरी जन्मभूमि जैसी निबंधों में ऐतिहासिक देश या क्षेत्रों का विस्तार से वर्णन हुआ है। 'वन्देमातरम' जैसे निबंध में देशभक्ति अ तत्व विद्यमान है। उसी प्रकार संस्कृति के धर्म, दर्शन, वर्ण, संस्कार ये तत्व भी इन निबंधों में पाई जाती है। 'हिमालय', प्रायश्चित की घड़ी', जैसे निबंधों में वर्ण व्यवस्था का चित्रण देखा जा सकता है। 'पुरानी पोथियाँ', संस्कृति एवम् इतिहास के तत्व से संपूर्ण हैं। द्विवेदी के निबंधों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से, हमें मालूम होता है कि उन्होंने मिथकीय तत्वों को अपनी रचना का आधार बनाया है। मिथक के बाह्य एवं आंतरिक घटकों का समावेश इसमें हुआ है। 'देवदारु' एवं 'अशोक के फूल' में स्त्रियों के 'अनुष्ठान' की बात बताई गई है। 'भीष्म को क्षमा नहीं किया गया' निबंध पूर्ण रूप से मिथकीय तत्वों के आधार पर लिखा गया निबंध है। इसमें ऐतिहासिक घटनाएँ, नैतिकता, जिज्ञासा वृत्ति, कल्पना आदि मिथकीय तत्व विद्यमान हैं। इस प्रकार देखें तो इतिहास, संस्कृति एवं मिथक के प्रमुख तत्वों का समावेश उनके निबंधों को सफल एवं तोचक बना या है।

इस प्रकार देखें तो द्विवेदी के निबंधों में उनकी साँस्कृतिक दृष्टि अत्यंत व्यापक है। वे परिवर्तनशील संस्कृति को उसकी संपूर्ण विराटता एवं तेजस्विता के

साथ स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास भारतीय संस्कृति की दार्शनिक मान्यताओं एवं कालक्रम से प्राप्त विभिन्न संस्कारों को आत्मसात करने की समन्वयवादी दृष्टि पर आधारित हैं। संस्कृति के नाम पर मानसिक जड़ता एवं रूढ़ अन्ध विश्वासों के वे कट्टर विरोधी थे। मरे हुए बच्चे को पेट से चिपकाए हुए बन्दरियों को वे अपना आदर्श नहीं मानते। ज्ञान –विज्ञान, बहुविध प्रसंगो एवं निष्पत्तियों को उदारतापूर्वक स्वीकारने के लिए सदैव तैयार रहते हैं, यही कारण है कि अपने सांस्कृतिक निबन्धों में ज्ञान –विज्ञान की अनेक शाखाओं के साथ सांस्कृतिक समन्वय का प्रयत्न करते हैं। आध्यात्मिक विकास, आन्तरिक शुचिता के साथ भौतिक साधना के विवेकपूर्ण उपयोग की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए उसके अतिवाद के प्रति सावधान करते हैं। सांप्रदायिक संकुचिता, शोषण की प्रवृत्ति, ऊँच – नीच का भेदभाव उन्हें अमानवीय कृत्य लगता है। उनके सांस्कृतिक निबन्धों में विभिन्न अतिवादों के बीच समन्वयात्मक समाधान का प्रयत्न निरन्तर दिखाई पड़ता है। वे न तो प्राचीन रूढ़ियों एवं जड़ीभूत परम्पराओं का समर्थन करते हैं और अचिन्तित और भ्रमात्मक विचारों का खण्डन करते हैं। संपूर्ण मानवता का कल्याण एवं मानवमात्र में परस्पर प्रेम की प्रतिष्ठा के लिए सर्व भौम मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करना उनका उद्देश्य है।

द्विवेदी के निबंधों का व्यक्तिपक्ष इतना प्रबल है कि वह उनके निबंधों के कलापक्ष एवं अध्ययन पक्ष पर भी हावी हो जाता है और उनकी अधिकतर रचनाओं को वैयक्तिक या आत्मपरक निबंधों की कोटि में रखता है। उनके निबंधों में कोई भी पक्ष दुर्बल नहीं है। इसमें ज्ञान गरिमा के साथ ही साथ सरलता है, चिंतन के साथ विचारों की स्पष्टता है, गंभीर विवेचन के साथ प्रसादात्मकता है। द्विवेदी के निबंध विचारात्मक और भावात्मक निबंधों की कोटि में सरलतापूर्वक रखे जा सकते हैं। उनकी रचना शैली में एक उन्मुक्त गति और स्वच्छन्दता पाई जाती है। कहीं-कहीं

पर उसमें भाषण कला का आनंद प्राप्त होता है। द्विवेदी के निबंधों से उनकी बहुज्ञता टपकती हैं। इस प्रकार हर निबंधों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि उनके सारे-के-सारे निबंध इतिहास, तथा संस्कृति की दृष्टि से संपूर्ण हैं और मिथक तत्व उसे ओज तथा तेज प्रदान करते हैं।

.....१०४.....